खण्ड-५

विचार वीथिका

(श्री जैथलिया की ५ दशकों की कतिपय महत्वपूर्ण रचनाएँ)

अनुक्रम

क्रं.	लेख	पृष्ठ
१.	जाहि विधि रहे राम, ताहि विधि रहिए	५
२.	अफसोस ! पचास वर्ष पूर्व हमारी भूमि ही नहीं, चेतना भी बंटी	८
३.	क्यों लीलता जा रहा है न्यू ईयर हमारे नव वर्ष को	११
४.	इन्तजार है 'इण्डिया' की जगह 'हिन्दुस्थान' के नाम पर सहमति का..	१५
५.	हमारी तेजस्विता एवं अस्मिता को लील रही है धर्म निरपेक्षता	१७
६.	कारसेवकों अभिनन्दन है ! (कविता)	१९
७.	धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता : भारत के सन्दर्भ में	२०
८.	इक्कीसवीं सदी को नोच रहा है नंगापन	२४
९.	साम्प्रदायिक विभेद बढ़ाने को नये काले कानून की तैयारी	२६
१०.	परदेशी मॉडल के विकास की मृग-मरीचिका में भ्रमित भारत	२८
११.	साहित्यिक ललक जगाने के स्रोत ही सूखते जा रहे हैं	३१
१२.	संस्कृति और सुरक्षा दोनों ही दृष्टि से रामसेतु की रक्षा जरूरी	३४
१३.	चीन की चुनौतियों के प्रति हमारी उदासीनता आत्मघाती	३८
१४.	राष्ट्र के उत्थान का राजमार्ग : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ	४०
१५.	शान्ति चाहिए ! (कविता)	४३
१६.	भारतीय संस्कृति के प्राण : मर्यादा पुरुषोत्तम राम	४५
१७.	योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण	४९
१८.	सकलगुण निधान : वीर हनुमान	५३
१९.	त्यागमूर्ति महर्षि दधीचि	५७
२०.	संस्कृति गंगा के भागीरथ : गोस्वामी तुलसीदास	५९
२१.	कीर्ति तुम्हारी अमर रहेगी (कविता)	६२

२२. कृष्ण दीवानी भक्तिमति मीरांबाई ६३
२३. वनवासी राम की प्रतिज्ञा और उसका निर्वाह ६७
२४. प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप ६९
२५. जरूरत है स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन और.. ..... ७६
२६. हिन्दू संस्कृति एवं संगठन के आलोक पुरुष 'श्रीगुरुजी' ७९
२७. मौलिक चिन्तन एवं कुशल संगठक : पं. दीनदयाल उपाध्याय ८२
२८. विलक्षण कर्मयोगी स्वातंत्र्यवीर सावरकर ८६
२९. मातृभूमि के अनन्य सपूत नरपुंगव भामाशाह ९१
३०. बीसवीं सदी के चाणक्य : सरदार वल्लभ भाई पटेल ९५
३१. राष्ट्रीयता के सजग प्रहरी : डॉ. राममनोहर लोहिया ९९
३२. सम्पूर्ण क्रान्ति के स्वप्नद्रष्टा : लोकनायक जयप्रकाश नारायण १०१
३३. डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी १०९
३४. प्रतिकार बिना नगराज शांति नहीं पाएगा (कविता) ११४
३५. संगठन कौशल, सादगी एवं सहज स्नेह की त्रिवेणी :
सुंदरसिंहजी भण्डारी ११५
३६. अभिनव ज्योतिपुञ्ज भँवरलालजी मल्लावत ११८
३७. पुण्यश्लोक कर्मयोगी श्री राधाकृष्ण नेवटिया १२३
३८. प्रखर राष्ट्रभक्त, महान लोकसेवक एवं वाणी के वरदपुत्र :
श्री कन्हैयालाल सेठिया १२६
३९. अविस्मरणीय प्रेरक विभूति : आचार्य विष्णुकांत शास्त्री १३३
४०. 'राजस्थान' राज्य का निर्माण १४०
४१. कश्मीर के अलगाव का नया सरकारी शिगूफा : पड़गांवकर रपट १४२
४२. शान्ति ! (कविता) १४४

***

सफल नेतृत्व का अमोघ मंत्र

जाहि बिधि 'रहे' राम, ताहि बिधि रहिए

आप संभवत: शीर्षक पढ़कर चौंक गएँ होंगे, क्योंकि हमारे समाज में तो यही उक्ति प्रचलित है – *'जाहि बिधि राखे राम, ताहि बिधि रहिए'।* इस उक्ति ने हो सकता है प्रयत्नों से हारे किसी व्यक्ति या समाज को जीने का सहारा दिया हो, पर यह हमारे तेजोभंग का भी कम कारण नहीं बनी है। इस उक्ति में परिस्थितियों से थककर, मन को समझाकर संघर्ष से विरत होने का सहारा तो ढूँढा जा सकता है, पर परिस्थितियों को चुनौती देकर योग्य परिवर्तन होने तक सतत् संघर्ष में रत रहने का आह्वान कहाँ है ? प्रभु श्रीराम के जीवन का संदेश तो थककर बैठने या आत्ममुग्ध होकर संतोष कर लेने का नहीं रहा है, वह तो दुष्टों का विनाश कर सज्जन शक्ति एवं शाश्वत सनातन धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा होने तक संघर्षरत रहने का रहा है। अत: मेरा अन्तर्मन बार-बार यह सोचता है कि आज मानवीय जीवन मूल्यों में एवं धर्माचरण में प्रतिदिन आती हुई गिरावट से देश एवं समाज को उबारने हेतु देशवासियों को पुन: श्रीराम के चरित्र को अपने जीवन में उतारने का आह्वान देना पड़ेगा और वह आह्वान होगा – *'जाहि बिधि रहे राम, ताहि बिधि रहिए।'*

इसका अर्थ यह है कि राम जैसे रहे, वैसे जीवन यापन करने का संकल्प जाग्रत करना होगा यानि सोद्देश्य जीवन, मर्यादापूर्ण जीवन, मूल्याधिष्ठित जीवन एवं उसके लिए आजीवन कष्ट सहते रहने का सहज अभ्यास। तभी इस देश में पुन: राम राज्य लाने का स्वप्न साकार हो सकेगा। जब कैकेयी ने राम को राज तिलक की जगह वनवास देने का वरदान दशरथ से मांग लिया तो राम कैकेयी से कहते हैं– *'नाहमर्थपरो देवि- लोकामावस्तुमुत्सहे'* यानि हे माता ! मैं अर्थ का नहीं, लोक का आराधक हूँ। तुलसीदास जी कहते हैं कि राम ने वन में राक्षसों द्वारा ऋषियों को दिए जाने वाले कष्टों को देखकर वन के सामान्य सुखों को भी त्याग दिया एवं हाथ उठाकर *'निसिचर हीन करउँ महि'* .... का दृढ़ संकल्प लिया। उस संकल्प की पूर्ति के लिए ही वे स्थान-स्थान पर राक्षसों का सफाया कर मुनियों को अभयदान देते रहे एवं इसी की चरम परिणिति कुलसहित रावण की मृत्यु में हुई। कुछ लोग अज्ञानवश कह देते हैं कि सीता का हरण हुआ अत: राम ने रावण को मारा। वस्तुत: ऐसा नहीं है, सीताहरण न भी हुआ होता तो भी इस भूभाग को

निशाचरहीन करने हेतु अन्ततः रावण से निर्णायक युद्ध अनिवार्य था क्योंकि उसी ने सारे देश में असुरों का मकड़जाल बिछा रखा था।

वैसे सीता उद्धार भी राम के लिए केवल अपनी पत्नी का उद्धार नहीं था, यह तो आसुरी शक्ति से प्रपीड़ित स्त्री जाति का उद्धार था, क्योंकि लंका में रावण सहित सभी राक्षसों ने पूरी पृथ्वी भर से सुन्दर स्त्रियों को जोर जबरदस्ती पकड़ कर अपनी भोग्या बनाने की परम्परा ही स्थापित कर रखी थी। राक्षसी राज्य के अन्त से ही इस पर विराम लगा।

राम चाहते तो वानरराज सुग्रीव या विभीषण की सहायता के बिना भी रावण का संहार कर सकते थे। खर-दूषण को अकेले ही सेना सहित मारकर उन्होंने यह कर दिखाया था। खर-दूषण के बारे में तो स्वयं रावण ने कहा है – *'खर दूषन मोहि सम बलवन्ता, तिनहिं को मारइ बिनु भगवन्ता'*। (अरण्य-२२/२) परन्तु राम इसे व्यक्तिगत नहीं, सामूहिक रूप देना चाहते थे। अतः वानरराज सुग्रीव, हनुमान, अंगद, जामवंत एवं विभीषण सभी को इसकी बड़ाई दी।

कुछ लोग तुलसीदास पर ब्राह्मणों के साथ पक्षपाती होने का आरोप गढ़ते हैं, यदि ऐसा होता तो तुलसी राम का चरित्र ही नहीं उठाते। रावण ब्राह्मण तो था ही, पंडित था, ऋषि था एवं भक्त भी था। परशुराम का भी ऐसा ही उदाहरण है। दोनों का गर्व भंग राम ने (जो क्षत्रिय थे) किया। पथभ्रष्ट ब्रह्मतेज पर क्षात्रतेज का प्राबल्य प्रकट हुआ। इसका एक विपरीत उदाहरण भी है वशिष्ठ एवं विश्वामित्र के बीच संघर्ष का। इसमें क्षात्र तेज पर ब्रह्मतेज की विजय हुई। सारांश यह है कि जो शक्ति लोक कल्याण में सार्थक होती है, वही शाश्वत और सफल होती है। सूत्र है तेज का सात्त्विक प्रयोग। इसे भली प्रकार समझने की आवश्यकता है। वैसी ही बात नारियों के प्रति प्रभु के दृष्टिकोण की है। राम ने परित्यक्ता अहिल्या का उद्धार किया, शबरी की कुटिया पर जाकर उसका मान बढ़ाया पर ताड़का का वध करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। सूर्पणखा जो कामातुर होकर कभी लक्ष्मण को तो कभी राम को अपना पति बनाना चाहती थी, को नाक-कान विहीन करने में लक्ष्मण को रोका नहीं। यहाँ भी बात लोककल्याण की ही है।

कुछ लोग राम को ईश्वर नहीं, मानव ही मानना चाहते हैं। ऐसे लोगों के सामने भी यह तो स्पष्ट ही है कि राम के मानवीय गुण देवत्व की दिव्यता से भी आगे बढ़ जाते हैं। राम के अलौकिक गुणों पर थोड़ा दृष्टिपात करें तो सहज ही यह समझ में आयेगा कि वे लोकोत्तर पुत्र, लोकोत्तर बन्धु, लोकोत्तर शिष्य, लोकोत्तर पति एवं लोकोत्तर राजा तो थे ही पर शत्रु के रूप में भी वे लोकोत्तर थे। मृत्यु के उपरान्त रावण एवं उसके परिवार के लोगों के साथ जो व्यवहार राम ने किया, वह अकल्पनीय है। इसी कारण आदि कवि बाल्मीकि से प्रारम्भ हुआ उनका चरित्र गुण-गान आज भी सबके लिए उतना ही प्रेरक बना हुआ है। इसमें न देश की सीमा है, न समय की और न भाषा की। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है –

"राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाए सहज संभाव्य है।"

परन्तु युग के संकटों से चुनौती लेने के लिए केवल स्तुतिगान पर्याप्त नहीं है। राम के नाम का महत्त्व निश्चय ही है, पर राम का काज उससे भी बढ़कर है। हम राम के कार्य को समझें, समय की तुला पर उसे तोलें एवं हनुमान जी की तरह यह संकल्प धारण करें एवं अन्य मित्रों से कराएँ- *'राम काजु कीन्हें बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम।'* तुलसी ने राम का सहारा लेकर समाज को जगाया, हम भी आज की चुनौतियों का उनके दिव्य गुणों को अपनाकर, उनके जैसे कष्ट सहने की शक्ति धारण कर आगे बढ़ें तो कोई कठिनाई नहीं होगी।

सामान्यत: हम सभी अपने सुख-साधन हेतु राम की अर्चना करते हैं, लोककल्याण हेतु नहीं। ऐसे स्वार्थी लोगों को उलाहना देते हुए महाकवि गुलाब खंडेलवाल ने लिखा है –

जिनका नाम लिए दु:ख भागे
मिला उन्हें तो जीवन भर दु:ख ही दु:ख आगे-आगे।
छूटा अवध साथ प्रियजन का, शोक अथह था पिता मरण का,
देख कष्ट मुनियों के मन का, वन के सुख भी त्यागे।
गूंजी ध्वनि जब कीर्तिगान की, फिर चिर दु:ख दे गई जानकी
मांग उन्हीं सी शक्ति प्राण की, मन तू सुख क्या मांगे ?
मिला उन्हें तो जीवन भर दु:ख ही दु:ख आगे-आगे।

अर्थात् लोकहित साधक को प्रभु राम जैसी कष्ट सहने की शक्ति की प्रार्थना करनी चाहिए, सुख की प्रार्थना नहीं। हमारे धर्माचार्य, धर्मोपदेशक समाजसेवी सभी को चाहिए कि पहले स्वयं राम के गुणों को अपने जीवन में उतारें एवं तब लोगों में उनका बीजारोपण करें। आज के स्वार्थ केन्द्रित, अर्थ केन्द्रित, भोगवादी एवं व्यक्तिवादी जीवन से उत्पन्न संघर्ष से मुक्ति पाने का दूसरा कोई सहज विकल्प नहीं है। राम-रसायन ही समाज एवं राष्ट्र के शरीर में पुन: अपेक्षित चैतन्य भर सकता है। अत: हम केवल 'सहने' नहीं, राम की तरह 'रहने' का संकल्प लें। ●

अफसोस ! पचास वर्ष पूर्व हमारी भूमि ही नहीं, चेतना भी बँटी

सर्वसाधारण के लिए आज आजादी के संघर्ष का अर्थ अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के हमारे लगभग दो सौ वर्षों के संघर्ष का ही नाम है परन्तु वास्तव में इस देश में फैलाई गई अनेक भ्रान्तियों की तरह यह भी एक बड़ी भ्रान्ति ही है। सत्य तो यह है कि पिछले लगभग २३०० वर्षों में जितने भी विदेशी आक्रमण इस देश में हुए हैं, उन सभी को उखाड़ फेंककर पुनः स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के सारे ही प्रयत्न हमारे आजादी के संघर्ष के ही प्रयत्न हैं। इस दूसरे कालखण्ड में हम कई बार शत्रु से हारे पर पुनः जीतने का संकल्प कभी मन्द नहीं हुआ। अतः हम अन्ततोगत्वा शत्रु द्वारा विजित अपनी भूमि पर पुनः अपना झण्डा गौरव से फहराने में समर्थ रहे- आसेतु हिमाचल एक राष्ट्र और अखण्ड राष्ट्र ही हमारा आराध्य रहा। पर अफसोस यह है कि १५ अगस्त १९४७ ई. को हमने अपनी भूमि ही नहीं खोई, अपनी परम्परागत विजिगीषु चेतना भी खो दी।

परिणाम यह हुआ कि आज कुछ लोगों को छोड़कर आम जनता अखण्ड भारत का विचार ही नहीं करती। यद्यपि वे कहते हैं कि विभाजन नहीं होना चाहिए था परन्तु जब हो गया है तो अब क्या किया जा सकता है ? अब तो यह एक स्थापित सत्य (Settled Fact) हो गया है। ऐसे लोग न भारत के इतिहास से ठीक परिचित हैं, न विश्व के इतिहास से कि किसी भी देश के लोगों की प्रचण्ड संकल्प शक्ति कैसे "स्थापित सत्यों" को बदल देती है। भारत में अंग्रेजी राज्य को क्यों लोगों ने स्थापित सत्य नहीं मान लिया था ? इसके पूर्व औरंगजेब के विशाल साम्राज्य को स्थापित सत्य नहीं मान लिया गया था ? कहाँ विराट मुस्लिम साम्राज्य और कहाँ छोटे-छोटे हिन्दू राजाओं के सीमित प्रयत्न ! पर इतिहास की सीख है कि ये सभी बदले। जरा विश्व के हाल के इतिहास पर भी नजर डालें तो इजराइल जैसे यहूदी राष्ट्र का निर्माण, जर्मनी का एकीकरण एवं सोवियत रूस के महाशक्तिशाली साम्राज्य का विघटन और अलग बंगलादेश का निर्माण हमें क्या सन्देश देते हैं। सत्य तो यह है कि भारत विभाजन के पूर्व तक विभाजन की बात ही हास्यास्पद लगती थी। पं. जवाहरलाल नेहरू ने इसे विलक्षण

मूर्खता की संज्ञा दी थी। गांधीजी ने कहा था कि विभाजन मेरी लाश पर होगा पर इन सबके बावजूद भी विभाजन हो गया। इतिहास में असम्भव कुछ भी नहीं है- विभाजन निरस्त होना भी असम्भव नहीं, यदि हमारे संकल्पों में दृढ़ता हो एवं कालचक्र को मोड़ देने की हमारी भविष्य दृष्टि हो। ऋषि अरविन्द के शब्दों में- "भारत की भावी महानता इसी के गर्भ में छिपी है।"

इसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी चिन्तन प्रक्रिया को सही दिशा में मोड़ दें एवं भारत तथा विश्व के इतिहास पटल का बारीकी से अध्ययन करें और उसके सही निष्कर्षों को जनता के सामने रखते हुए उनका भी मनोबल बढ़ायें।

यह कार्य कठिन होते हुए भी असंभव नहीं है। यद्यपि स्वाधीनता के इन बीते वर्षों में हमारे सही संकल्पों पर राख गहरी हो गयी है पर उसे दृढ़ संकल्प की हवा देकर राष्ट्रभक्ति को पुनः चेतन किया जा सकता है। हम तो पिछले २३०० वर्षों में बहुत कड़ी परीक्षा एवं कठिन घड़ियों में से गुजर कर अपना रास्ता बनाने में समर्थ हुए हैं। इतिहास के उन पृष्ठों का एक विहंगावलोकन ही हमें पर्याप्त सामर्थ्य दे सकता है।

इस देश पर पहली बार आक्रमण का दुःसाहस ईसा से ३२७ वर्ष पूर्व सिकन्दर द्वारा किया गया पर चाणक्य एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रयत्नों से तीन वर्ष के भीतर ही उसे पलायन करना पड़ा एवं सातवर्ष की अल्पावधि के भीतर ही भारत भूमि पर उस 'विश्वविजेता' का कोई पद चिह्न नहीं रहा। उसके बाद मध्य एशिया से कुशाण आए परन्तु उनकी भी वही गति हुई एवं वे भी इस देश की मूलधारा में समा गए। उनका सुप्रसिद्ध सम्राट कनिष्क तो बौद्ध धर्म का प्रचारक ही बन गया। तत्पश्चात् बर्बर शकों का ईसा की प्रथम शती में एवं हूणों का पाँचवीं शती में आगमन हुआ। उन्होंने अपनी क्रूरता के बल पर समस्त उत्तर भारत को रौंद डाला पर अन्ततः इन्हें भी विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन एवं यशोधर्मा जैसे वीरों द्वारा योग्य उत्तर मिला जिन्होंने भारतभूमि को बेड़ियों से मुक्त कर पुनः उसके भाल पर स्वातन्त्र्य का तिलक लगाया एवं ये बर्बर आक्रमणकारी भी अन्ततोगत्वा इसी देश की सांस्कृतिक धारा में ऐसे घुल-मिल गए कि उनकी कोई अलग पहचान रही ही नहीं।

सातवीं सदी के प्रारम्भ (६३७ ई.) में अरबों का सिन्ध पर आक्रमण हुआ। तत्पश्चात ७१०-११ ई. में मुहम्मद-बिन-कासिम ने सिंध पर पुनः जबरदस्त हमला किया। परिणामस्वरूप सिंध का राजा दाहिर पराजित हुआ एवं मारा गया। इसके बाद ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में महमूद गजनी एवं १२वीं शती के अन्त में महमूद गोरी के प्रचण्ड आक्रमण हुए जिसमें पृथ्वीराज चौहान के प्रारम्भिक विजय हुई पर बाद में आपसी फूट के कारण पराजय हुई। इसमें सब समय हार एवं जीत की बाजी निरन्तर लगी रही- संघर्ष की ज्वाला कभी मन्द नहीं हुई।

१५२६ ई. में बाबर ने दिल्ली की सल्तनत जीत ली जो १७०७ ई. तक उसके पौत्र औरंगजेब तक चली पर उसी कालखंडों में पुनः मराठों, सिखों, जाटों एवं राजपूतों इत्यादि हिन्दू शक्तियाँ प्रबल रूप से उभर कर खड़ी हो गईं एवं मुगलिया सल्तनत अन्तिम सांसें लेने लगी पर दुर्दैव से पूरे देश में हिन्दू शक्तियों की पूर्ण सफलता के पूर्व ही फिरंगी लोग समुद्री मार्ग से व्यापारी बनकर आ धमके एवं १७५७ ई. में पहले बंगाल को अपने कब्जे में किया फिर एक के बाद दूसरी सफलता प्राप्त करते गए। परन्तु इनके विरुद्ध भी संघर्ष कभी थमा नहीं और अन्ततोगत्वा १५ अगस्त १९४७ ई. को इस देश को भारत और पाकिस्तान के रूप में हिन्दू और मुसलमानों की संख्या बहुलता के आधार पर विभाजन कर अंग्रेजों ने विदा ली।

विभाजन के कारण उस समय जो भी रहे हों, पर क्या यह उचित है कि स्वाधीन भारत इतिहास की भूलों का परिमार्जन करने से ही मुँह मोड़ ले ?

युवकों के लिए यह चिन्तन एवं चुनौती दोनों का ही विषय है। पाकिस्तान की निरन्तर युद्ध की मानसिकता एवं उसका भारत द्वेष पिछले अनेक वर्षों में जगजाहिर हो चुका है। आज भी सीमा पर संघर्ष जारी है। क्या हमें इस पर गहराई से विचार की आवश्यकता नहीं है ?

अखण्ड भारत ही सुरक्षित एवं समर्थ भारत होगा। परन्तु कब होगा ? यह हमारे चिन्तन की दिशा एवं पौरुष पर निर्भर करेगा। जर्मनी का एकीकरण हमारे लिए प्रेरक प्रसंग का काम कर सकता है। इतिहास में नवीन रचना के लिए भी पर्याप्त अवकाश रहता है। आवश्यकता है कि हम अपनी नई पीढ़ी की चेतना की चिनगारी को धधकता रहने दें, उसपर स्वार्थ एवं परानुकरण तथा भोग की राख न चढ़ने दें।

इस कालखंड की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि हमारी चेतना ही मंद पड़ गयी है। अन्यथा इतिहास साक्षी है कि हमने कठिन से कठिन समय में भी कालचक्र को बदला है। अपना दास बनाया है। हम आगे भी ये करके रहेंगे। ●

कहां खो गया है हमारा समृद्ध कालबोध !

क्यों लीलता जा रहा है 'न्यू ईयर' हमारे 'नववर्ष' को

विगत एक वर्ष से २१वीं शताब्दी के आगमन की चर्चा विश्व भर में जोर-शोर से बनी रही। अपना देश भी इसमें पीछे नहीं था। यह बात अलग है कि वास्तव में वह इक्कीसवीं शताब्दी आज १ जनवरी २००१ ई. से प्रारंभ हो रही है। पर जिन्हें कुछ जल्दी थी, वे मनमाने तौर से एक वर्ष पहले ही प्रवेश कर गये। कुछ लोगों ने इसका अच्छा धंधा किया। वैसे एक जमाने में अपने अंग्रेजी आकाओं को प्रसन्न करने हेतु जी-हजूर भारतीयों के एक विशेष वर्ग द्वारा ओढ़ी गयी 'न्यू ईयर' पर ग्रीटिंग या शुभकामनाएँ देने की परंपरा स्वाधीन भारत में घटने के बजाय बढ़ी ही है और आज तो जाने-अनजाने वह उन्माद का रूप धारण करती जा रही है। अंग्रेज थे तो उन्हें उनके नववर्ष पर शुभकामना देना अस्वाभाविक नहीं लगता था, पर अब, जब वे यहाँ नहीं हैं तो ऐसे अंग्रेजी परस्त लोग सामान्य जन से अलग दिखने हेतु अपने बंधुओं को ही 'हैपी न्यू ईयर' के महँगे कार्ड तो भेजते ही हैं, फोन पर भी 'हैपी न्यू ईयर' कहकर अभिवादन करने में अपनी शान समझते हैं। अपने नये-नये परिचित एक सज्जन का पिछली १ जनवरी को जब 'हैपी न्यू ईयर'- 'हेपी मिलेनियम' कहते हुए फोन आया तो मैंने सहज ही पूछ लिया- 'किस का न्यू ईयर'? कैसा मिलेनियम? तो वे थोड़ा सा झेंपे एवं बनावटी हँसी हँसने लगे। मैंने उन्हें निवेदन किया कि आगामी ३ माह बाद आने वाले भारतीय नववर्ष के लिए वे अपना यह उत्साह सुरक्षित रखें एवं अपनी परम्परागत कालगणना जो जन-जीवन से जुड़ी हुई है, उसका थोड़ा अध्ययन करें, जिसे उन्होंने स्वीकार किया।

अंग्रेजों ने जिस-जिस देश पर राज्य जमाया, वहाँ वहाँ ईस्वी सन् वाली कालगणना थोप दी। भारत भी इसका अपवाद नहीं था। यहाँ भी प्रचलित 'पंचांगों' की जगह रोमन संवत् के कलैंडरों ने ले ली एवं व्यापक रूप से व्यवहृत चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को प्रारंभ होने वाले विक्रमी संवत् या कलिसंवत् के नववर्ष की जगह १ जनवरी के 'न्यू ईयर' ने ले ली। आज तो स्थिति यहाँ तक आ गयी है कि अनेक देशवासी अपनी संवत् के बारह महीनों के नाम भी ठीक प्रकार से नहीं बता पायेंगे- पंचांग के अन्य अंगों यथा तिथि, नक्षत्र, योग

आदि की तो बात ही दूर की है। इसमें केवल एक प्रकार के संवत् से दूसरे प्रकार के संवत् के प्रयोग की ही बात नहीं है। यह मसला बहुत गहरा है एवं हमारी सम्पूर्ण सभ्यता, संस्कृति एवं जीवन के व्यवहार के साथ एकमेक रूप से जुड़ा हुआ है।

भारतीय समाज विशेषकर बहुसंख्यक हिन्दू समाज के बारे में जिसकी थोड़ी बहुत भी जानकारी है वह यह भली प्रकार जानता है कि हमारे सम्पूर्ण नित्य एवं नैमित्तिक कार्यों का ताना-बाना यथा-षोड़श संस्कार (जन्म से मृत्युपर्यंत), व्रतोत्सव, यज्ञ, त्यौहार, अवतारों एवं अन्य दिव्य पुरुषों की जयंतियाँ तथा अन्य सामाजिक, धार्मिक कार्य भारतीय कालगणना से ही बंधे हुए हैं, रोमन या अन्य कोई कैलेंडर उसका विकल्प नहीं बन सकता। रोमन कैलेंडर से हम कैसे ढूंढ़ पायेंगे जन्माष्टमी, रामनवमी, दीवाली, होली, दशहरा, दुर्गापूजा की तिथियाँ ? ये ही तो हमारी संस्कृति के प्राण हैं। सत्य तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना विशिष्ट कालबोध होता है। जो संस्कृति अपना कालबोध विस्मृत कर देती है वह दिशाविहीन होकर नष्ट हो जाती है। क्या हम जाने-अनजाने अपना कालबोध एवं फलस्वरूप आत्मगौरव विस्मृत कर उस खतरे की ओर नहीं बढ़ रहे हैं ? यह शांत चित्त एवं गहराई से सोचने का विषय है।

वैज्ञानिक कसौटी पर भी हमारी कालगणना के मुकाबले कोई दूसरी कालगणना ठहरती ही नहीं है। इसमें न्यूनतम क्षण से लेकर सृष्टिप्रलय के अंतकाल तक के समय को मापने, लिखने के सटीक पैमाने हैं। भास्कराचार्य ने सिद्धांत शिरोमणि के गणिताध्याय में 'त्रुट्यादि प्रलयान्त कालगणना .....' के दो श्लोकों में समस्त पैमानों का दिग्दर्शन कराया है।

एक सुप्त स्वस्थ मनुष्य के नेत्र खुलने में जितना समय लगता है उसका नाम 'तत्पर' है, तत्पर के शतांश को 'त्रुटि' एवं सहस्रांश को 'लव' कहते हैं। त्रुटि के बाद लव, निमेष, नाड़ी, मुहुर्त, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष की गणना है। वर्ष के बाद कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि के नाम से चतुर्युगों की गणना है। कलियुग का समय ४ लाख ३२ हजार मानव वर्ष है, द्वापर उससे दुगुना, त्रेता उससे तिगुना एवं कृतयुग या सत्ययुग चौगुना है, कुल मिलाकर एक चतुर्युगी ४३ लाख २० हजार वर्ष की होती है। चतुर्युगी को महायुग भी कहते हैं। ऐसे ७१ महायुग मिलकर एक मन्वन्तर होता है। सौर मण्डल का एक परिभ्रमण एक मन्वन्तर में पूरा होता है। इस समय हमारी ऋषि गणना के अनुसार इस सृष्टि का सातवां वैवस्वत मन्वन्तर चल रहा है। प्रलय पर्यंत १४ मन्वन्तर होंगे। वैवस्वत मन्वन्तर के २७ महायुग बीत चुके हैं और २८ वें महायुग में कलियुग के ५१०२ वर्ष पूर्ण होकर आगे चैत्रशुक्ल प्रतिपदा (२६ मार्च २००२ ई.) को ५१०३ युगाब्द और २०५८ विक्रम संवत् प्रारंभ होगा। काल की इससे भी बड़ी गणना ब्रह्मा के दिन, मास, वर्ष से होती है। तात्पर्य यह है कि हमारे यहां काल की सूक्ष्मतम गणना से लेकर विश्व की प्रथम अवस्था आदि अण्ड तक की गणना के

लिए उचित माप या पैमाने विद्यमान हैं। इसके विपरीत ईसाई या रोमन संवत् तो अभी मात्र दो हजार वर्ष का है। उनका सृष्टि का ज्ञान भी ६ हजार वर्ष से अधिक नहीं जाता, जबकि आधुनिक विज्ञान क्रमशः भारतीय गणना के निकट आ गया है। यहाँ उस विषय पर विस्तार से चर्चा का अवकाश या प्रयोजन नहीं है। इतना ही विचारणीय विषय है कि इतने छोटे पैमाने को लेकर हम कैसे सृष्टि रचना एवं ज्योतिष शास्त्र के गहन रहस्यों में उतर पायेंगे।

किसी भी धार्मिक कृत्य के पहले हिन्दू धर्म में संकल्प लेने का विधान है। उस संकल्प के मंत्र में ही कल्प से लेकर मन्वन्तर, युग, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्रादि सबका उच्चारण आवश्यक है। यह अविच्छिन्न परम्परा भारतीय कालबोध के बारे में सब कुछ कह देती है। परंतु हमारे ऊपर तो मैकाले की शिक्षा पद्धति का भूत सवार है, अपनी धरोहर का ध्यान ही कहाँ है ? स्वाधीनता के बाद यह स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ी ही है।

लार्ड टी.वी. मैकाले की आत्मा आज हमारी स्थिति को देखकर कितनी प्रसन्न होती होगी कि उसने जो कुछ सोचा था वह अक्षरशः सच हो रहा है। अंग्रेजी शिक्षा पद्धति लागू करने के कुछ समय पश्चात् ही १२ अक्टूबर १८३६ ई. को कलकत्ता से अपने पिता को लिखे गये पत्र में उसने जो विचार विश्वासपूर्वक प्रकट किये, वे ध्यान देने योग्य है। उसका एकांश यहां प्रस्तुत है-

'.....हिंदुओं पर इस शिक्षा का गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ रहा है। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कोई भी हिन्दू अपने धर्म से निष्ठापूर्वक जुड़ा नहीं रह जाता है।

कुछ गिने-चुने लोग ही दिखावटी तौर पर अपने हिन्दूधर्म में विश्वास रखते हैं, कई अपने को आस्तिक कहते हैं और कुछ ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है। मेरा पक्का विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजना पर अमल होता रहा तो ..... हम धर्मांतरण की योजना के बिना ही, धार्मिक स्वतंत्रता में तनिक भी बाधा डाले बिना ही, केवल इस शिक्षा पद्धति से यह सब सिद्ध कर सकते हैं। निकट भविष्य की संभावना से मुझे हार्दिक खुशी होती है..... ।'

भारतीयों को विशेषकर हिन्दुओं को अपनी सभ्यता एवं अपने संस्कारों तथा संस्कृति से काटने की मैकाले की कल्पना कितनी सच हो रही है, इसका आकलन आज सहज ही किया जा सकता है। हम ऐसी मानसिक स्थिति में पहुंच गये हैं कि अपनी चीज का सही परिप्रेक्ष्य में विचार तक करने को प्रस्तुत नहीं।

हमारे यहाँ के भूगोल एवं ऋतुओं की संरचना के हिसाब से ही नव वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है। हम अपने देश का आर्थिक वर्ष अब भी अप्रैल से मार्च का

मानते हैं, जो चैत्र के आसपास ही आरंभ होता है परन्तु हमें तो नाक उल्टी पकड़नी है। तिथि का राजा सूर्य है, सूर्योदय से ही तिथि प्रारम्भ होना स्वाभाविक है। हमारे यहाँ यही होता था। ज्योतिष में हम ही विश्व के मार्गदर्शक थे। अत: जब हमारे यहाँ प्रात: ६ बजता था तो इंग्लैंड में रात के १२ बजते थे। इसी कारण वे अपना दिन रात के १२ बजे बदलते थे। अब हमने उनको आदर्श मानकर रात के १२ बजे से अपना दिन बदलना प्रारंभ कर दिया। क्या कहेंगे इस मानसिकता को ? हमारे तथाकथित प्रगतिशील विद्वानों के तो सारे तर्क अपनी बातों को काटने के लिए ही प्रयुक्त हो रहे हैं। ऐसी आधुनिकता का लबादा ओढ़े नास्तिक लोग हमारे धर्मग्रन्थों (वेद, रामायण, महाभारत, पुराण प्रभृति) का अध्ययन उनसे अच्छी बातों को उजागर करने के लिए नहीं करते बल्कि जानबूझकर लोगों को भ्रमित करने के लिए करते हैं। उनका आचरण उस मक्खी जैसा कहा जा सकता है जो नाना प्रकार के सुमधुर पकवानों पर बैठती तो है पर उनसे रस या स्वाद ग्रहण करने हेतु नहीं बल्कि उनपर अपनी गंदगी छोड़ने के लिए।

स्वाधीन देश के नागरिक के नाते हमारा आज यह कर्तव्य है कि हम न तो अपने ज्ञान के कपाट बंद करें और न ही उन्हें किसी के गिरवी रखें। संसार में जो कुछ अच्छा है उसे हम स्वीकार करें पर अंधानुकरण नहीं। 'न्यू ईयर' के उन्माद में अपनी मान्यताओं के प्रयोजन एवं अपने कालबोध को विवेक हीनता से बाहर न फेंक दें बल्कि विवेकपूर्वक उसका सटीक मन्थन कर अपना व्यवहार स्थिर करें, यही स्वतंत्र देश के नागरिकों से अपेक्षा है। हमारी ऋषि-प्रज्ञा ज्ञान का अमृत-घट लिए आशा भरे नेत्रों से हमारी ओर निहार रही है। आशा है हम उनके अर्जित ज्ञान-विज्ञान को आगे बढ़ाने का संकल्प लेकर नव वर्ष में प्रवेश करेंगे। ●

इन्तजार है 'इन्डिया' की जगह 'हिन्दुस्थान' के नाम पर सहमति का..

'वेस्ट बंगाल' के नाम को बदल कर 'पश्चिम बंग' करने पर यहाँ की विधानसभा के सभी घटकों में सहमति हो गई है और अब इसे अधिकारिक रूप में इसी नाम से जाना जाएगा। इसके पहले 'कलकत्ता' कोलकाता हुआ, जिलों के नाम भी अंग्रेजी से परहेज करते हुए 'उत्तर दिनाजपुर', 'दक्षिण दिनाजपुर', 'पूर्व मेदिनीपुर', 'पश्चिम मेदिनीपुर', 'उत्तर चौबीस परगना' तथा 'दक्षिण चौबीस परगना' किए गए। देश के अन्य भागों में भी अंग्रेजी में चले आ रहे बम्बई को 'मुम्बई', मद्रास को 'चैन्नई' एवं पांडिचेरी को 'पुडुचेरी' बनाकर नामों का देशीकरण किया गया। इतना सब होने पर भी 'इंडिया' को 'हिन्दुस्थान' के नाम से स्थापित होने का अभी भी इन्तजार है। लोगों की मन:स्थिति ऐसी हो गई है कि कहीं ऐसा करने से इस देश की धर्म-निरपेक्ष छवि पर आँच न आ जाये ?

दरअसल यह 'हिन्दू' को निरन्तर साम्प्रदायिक कहते रहने का दुष्परिणाम है पर ठीक से विचार किया जाए तो हिन्दू नाम तो सिन्धु से पड़ा, जो शुद्ध भौगोलिक है। इसका अर्थ केवल उन लोगों से है जो सिन्धु के देश में रहते हैं। मुनव्वर राना की एक प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ देखें- **'सिन्धु सदियों से हमारे देश की पहचान है। ये नदी गुजरे जहां से, समझो हिन्दुस्तान है।'**

इस देश का नाम भारत तो हमारे पूर्वज, चक्रवर्ती सम्राट भरत से पड़ा, जो व्यक्तिवाचक है एवं हमारी ऐतिहासिक परम्परा का द्योतक है, जिससे कुछ लोग अपना जुड़ाव नहीं भी कर सकते हैं।

देश विभाजन के समय तक प्राय: लोग इस देश को हिन्दुस्थान के नाम से ही पुकारते थे। विभाजन के उपरान्त दो मुल्क हिन्दुस्थान और पाकिस्तान बने। उर्दू-फारसी या गंगा-जमुनी तहजीब वाले इसे 'हिन्दुस्तान' कहते थे। इसी नाम की लोकप्रियता के चलते यहाँ अनेक सरकारी एवं गैर-सरकारी उपक्रमों के नाम यथा- हिन्दुस्तान पेट्रोलियम, हिन्दुस्तान कॉपर, हिन्दुस्तान एरोनेटिक, हिन्दुस्तान मोटर प्रभृति रखे गए। एक बड़े हिन्दी पत्र का नाम भी 'हिन्दुस्तान' रखा गया एवं 'हिन्दी हैं हम, वतन है हिन्दोस्तां हमारा' गर्व से गाया गया।

परन्तु धीरे-धीरे धर्म-निरपेक्ष ब्रिगेड को इसमें साम्प्रदायिकता की बू आने लगी एवं संविधान बनाने की प्रक्रिया में ही 'इंडिया' हिन्दुस्थान पर हावी होगया एवं इसका नाम 'हिन्दुस्थान यानि भारत' की जगह 'इंडिया यानि भारत' लिखा गया। आज तो शिक्षा में अंग्रेजीकरण के चलते इंडिया ही क्रमशः बाजी मार रहा है और स्थिति यहाँ तक पहुँची है कि 'हिन्दुस्थान' शब्द प्रायः हिन्दी के शब्दकोशों से भी लुप्त होता जा रहा है और इसके साथ ही क्षीण होता जा रहा है हमारा आत्म गौरव एवं इतिहास गौरव का भाव। स्वामी विवेकानन्द ने जब- 'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं' कहा था तो उनका आशय तो हमारी सुदीर्घ विश्वकल्याणी संस्कृति से ही था। साम्प्रदायिक या संकीर्ण चिन्तन से बिल्कुल नहीं।

हिन्दू नाम को 'सम्प्रदाय' के घेरे में ढकेलने वाले जरा गहराई से विचार करके तो देखें कि सम्प्रदाय वे होते हैं जिनका कोई एक प्रवर्तक हो और एक पुस्तक हो। ऐसे में बाकी सब पंथ आएँगे पर हिन्दू कदापि नहीं। यह तो सिन्धु के देश में बने एवं पनपे सभी सम्प्रदायों के समूह का भौगोलिक नाम है, इस नाम का तो कोई सम्प्रदाय है नहीं। सरल उदाहरण के लिए हम 'किराने' की दुकान की मिसाल ले सकते हैं जिसमें अनाज, मीठा एवं सभी अन्य आवश्यक दैनन्दिन काम की सामग्री मिलती है और उस सबका सामूहिक नाम 'किराना' है, किसी एक वस्तु का नहीं। इस नाम को सम्प्रदाय की आख्या देकर हमने अपनी पूरी संस्कृति एवं सभ्यता से अपने आपको काट लिया है अतः सब क्षेत्रों में हमारा व्यक्तिगत जीवन एवं लोकजीवन बिखर रहा है। अब समय आगया है कि महाबली कर्ण को 'राधेय' की जगह 'कौन्तेय' कहा जाए एवं उसे अपनी सही विरासत से जोड़ा जाए।

जहाँ तक राज या शासन का सम्बन्ध है, यदि सम्राट अशोक के कार्यकाल को छोड़ दिया जाए तो यहाँ किसी ने भी धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर शासन में किसी के साथ भेदभाव नहीं बरता। विदेशियों के घनघोर अत्याचारों के बीच भी शिवाजी और महाराणा प्रताप के शासन सब पन्थों के प्रति सहनशील एवं उदारता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। संविधान सभा में भी डॉ. राधाकृष्णन एवं अन्य अनेक लोगों के भाषण हमारी शास्वत धर्म की धारणा को स्पष्ट एवं पुष्ट करने वाले हैं।

अतः आज समय आगया है कि देश में इतने सारे भौगोलिक नामों के परिवर्तन के साथ हम 'इंडिया' जैसे अंग्रेजी नाम के स्थान पर 'हिन्दुस्थान' नाम के औचित्य पर विचार करें, चर्चा करें एवं विधान की आवश्यकतानुसार सहमति बनाकर निकट भविष्य में इसे लागू करें ताकि हमारा गौरवशाली अतीत पूरी प्रभा के साथ सजीव हो उठे। ●

हमारी तेजस्विता एवं अस्मिता को लील रही है धर्म-निरपेक्षिता (सेकुलरिज्म)

धार्मिक होना भारत में सदा से सद्गुण माना जाता रहा है पर आज स्वाधीन भारत में धार्मिक होना 'साम्प्रदायिक' और धर्म-निरपेक्ष (Secular) होना 'सद्गुणों' के रूप में प्रतिष्ठा पा रहा है। यदि सन्त कबीर आज होते तो वे इस 'रंगी को नारंगी' कहने पर अवश्य रोते। इसमें भी खेल बराबर का नहीं हैं कुछ सोचे-विचारे अपवाद हैं। धार्मिक होने पर भी यदि आप इस्लाम या ईसाई मत के विश्वासी हैं तो कोई चिन्ता की बात नहीं है क्योंकि तब आप अल्पसंख्यक के रूप में भारत के संविधान में प्रदत्त विशेषाधिकारों से सुरक्षित हैं, अपनी मरजी से अपने काम चलाने में। इन अधिकारों के चलते आपको साम्प्रदायिक कहने का साहस भला किसमें है ? इनका साथ ही तो किसी दल या संगठन को साम्प्रदायिक से राष्ट्रीय बनाने की महौषधि है। कोई भी दल या संस्था अपने नियमों या विश्वास से नहीं, इनका साथ होने से ही 'राष्ट्रीय' बनती है। यह केवल पारस पत्थर ही नहीं, जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है बल्कि यह तो वह 'अनामी' पत्थर है, जिसके स्पर्श के बिना, सोना भी सोना नहीं कहला सकता।

भारत ने स्वाधीनता का दीर्घकालीन संघर्ष केवल भौगोलिक आजादी के लिए ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक एवं धार्मिक आजादी के लिये भी किया था। 'स्वराज्य एवं स्वधर्म' दोनों ही हमारे संघर्ष के मुद्दे थे। बहुत बार तो 'स्वधर्म' का मुद्दा 'स्वराज्य' से भी बढ़कर माना जाता था। हिन्दुओं ने इस्लामी अत्याचार से ऊबकर एक काल में भ्रमवश अंग्रेजों से सहानुभूति रखी तो बाद में 'अंग्रेज हमें धर्मभ्रष्ट कर रहा है', इसी को आधार बनाकर १८५७ ई. में हिन्दू और मुसलमान दोनों एकजुट होकर अंग्रेजों से लड़े, यह इतिहास है।

अंग्रेजों ने तब 'फूट डालो और राज करो' की नीति अपनाते हुए हिन्दुओं को अपने धर्म से विरत करने एवं धर्म-गौरव-शून्य बनाने के नानाविध उपाय अपनाये। १८५७ ई. की एकता को तोड़ने हेतु अलगाववादी मुस्लिम नेतृत्व एवं आत्महन्ता हिन्दू नेतृत्व को पूरा सहारा देकर आगे बढ़ाने का काम अंग्रेजों ने उसी दीर्घकालीन योजना के अंग के रूप में किया। स्वामी विवेकानन्द को १८९३ ई. के शिकागो धर्म सम्मेलन में मिली अप्रत्याशित उपलब्धि से भारत की अंग्रेजी सरकार को अवश्य झटका लगा क्योंकि अंग्रेज सरकार द्वारा आख्यायित

'जाहिल हिन्दूधर्म' को 'विश्व का श्रेष्ठतम धर्म' कहलाने का गौरव मिल चुका था एवं गोरी चमड़ी के कई नामी-गिरामी लोग वेदान्त के प्रचार में सहयोगी बन गए थे। कुछ तो विवेकानन्द के शिष्य बनकर भारत भी आ गए थे। पर भारत के दुर्भाग्य से 'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं' कि घोषणा करने वाले योद्धा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने चालीस वर्ष की उम्र भी नहीं पाई और वे १९०२ ई. में इहलोक छोड़ गए। तिलक भी पहले जेल के सीखचों में ढकेल दिए गए, छूटे तो ज्यादा दिन जीवित नहीं रहे। तब फिर से कांग्रेसी नेतृत्व 'मुस्लिम तुष्टीकरण' हेतु दण्डवत करता पाया गया और अन्ततः 'असंभव - असंभव' कहते-कहते भी मातृभूमि का विभाजन 'हिन्दू और मुस्लिम' जनसंख्या के आधार पर स्वीकार कर लिया गया पर मुसलमानों को अपनी इच्छा के स्वर्ग पाकिस्तान में जाने से रोका गया यानि हिन्दुस्तान में ही रहने दिया गया और हिन्दुओं को पाकिस्तान में दरिंदों के हाथों मरने को छोड़ दिया गया, यह इतिहास सबको विदित है।

आजादी के बाद हम यदि अपनी परम्परा पर गर्व कर अपनी संस्कृति को शासन में स्थान देते तो एशिया के बहुत देशों को बौद्ध-धर्म एवं रामायण के आधार पर जोड़ सकते थे, सौहार्द बढ़ा सकते थे। पर मुस्लिम तुष्टीकरण के चक्कर में हमने देश-विभाजन के बावजूद अल्पसंख्यकों के लिए विशेषाधिकार संविधान की धारा २९ एवं ३० में स्वीकारे, यह विश्व का आठवाँ आश्चर्य था। यही नहीं, वोट बैंक के चलते हमने प्रचुर घुसपैठ भी होने दी। आज आतंकवाद एवं युद्ध की छाया हमारे ऊपर मंडरा रही है, पर हम अमावस्या को अमावस्या न कहने को मजबूर हैं। ऐसे में समय का तकाजा है कि भारत की जनता सही स्थिति का गहराई से विचार करे और राजनैतिक नेताओं को कड़े एवं यथार्थ कदम उठाने पर मजबूर करे।

ईसाई मिशनरियाँ जो आजादी के तुरन्त बाद अपने बोरिया-बिस्तर बांधकर जाने वाली थीं, इसी सेक्यूलरवादी नेताओं के भरोसे पर फिर से जमकर बैठी। आज पूरा पूर्वाञ्चल इनके धर्मान्तरण की करतूतों से अशान्त है, पर उन्हें भी अल्पसंख्यक के नाते देश में भरपूर सुविधा है हिन्दुओं को मतान्तरित कर अलगाववादी के रूप में खड़ा करने की भी। आश्चर्य की बात यह है कि अल्पसंख्यक कौन है, इसकी परिभाषा तक संविधान में नहीं दी गई है। इतनी बड़ी जनसंख्या को अल्पसंख्यक मानकर उन्हें विशेषाधिकार देना क्या बहुसंख्यकों एवं देश के साथ अन्याय नहीं है ?

आजादी के बाद अल्पसंख्यकता की बात मुसलमानों और ईसाइयों तक ही नहीं रही, क्रमशः बौद्ध, सिक्ख और जैन भी इसमें संवैधानिक लाभों के चलते जुड़ गए हैं। अब तो अगड़े, पिछड़े, जाति, क्षेत्र के और अनेक भेद खड़े हो रहे हैं, जिन्हें हवा दी जा रही है हमारे राजनेताओं द्वारा अपने क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए।

अत: आज का समय गहराई से चिन्तन कर विशेषाधिकार समाप्त करने का है। यह बात ध्यान रखने की है कि भारत मात्र अपने संविधान के कारण एक नहीं है, यह तो अपनी सर्वहित चिन्तक उदार हिन्दू संस्कृति, धर्म एवं परम्परा के कारण एक है, खान-पान, भाषा एवं उपासना पद्धतियों की भिन्नता के बावजूद। अत: अपने राष्ट्र की अखंडता को बरकरार रखने तथा पड़ोसी देशों से मित्रता बढ़ाने का एक ही सबल एवं प्रामाणिक सूत्र है - हमारी संस्कृति एवं धर्म। हम इसकी रक्षा करेंगे तो यह हमारी रक्षा करेगा। इसी में से भारत के परम-वैभव की भवितव्यता भी पूरी होगी। ●

कारसेवकों अभिनन्दन है!

कारसेवकों अभिनन्दन है, स्वीकृत हो यह रोलीं।
कालचक्र को मोड़ा तुमने, कैसी अद्भुत टोली।।
सुरभि तुम्हारे शौर्यकर्म की, दिक्-दिगन्त में फैली।
चमत्कार है! चमत्कार है! सारी दुनिया बोली।।
कितनी बाधा, कितने बन्धन, साहस से सब खोले।
माना जग ने! भूत वही जो, सिर पर चढ़कर बोले।।
वर्ष पाँच सौ के कलंक को, धोया पाँच घड़ी में।
यह गाथा इतिहास लिखेगा, सोने के आखर में।।
शौर्य कर्म से तुमने, सब पितरों को तृप्त किया है।
राम, शरद और सब मित्रों का, मरण सुकार्थ हुआ है।।
न्याय विलम्बित जब होता है, क्रान्ति कदम बढ़ते हैं।
जो बन्धन को तोड़ें, वे इतिहास नया गढ़ते हैं।।

धर्म बनाम धर्म निरपेक्षता: भारत के सन्दर्भ में

भारत में सदा से धर्म का सर्वोपरि स्थान रहा है। हमारे मनीषियों ने धर्म से रहित मनुष्य को पशु की संज्ञा दी है एवं कहा है - 'धर्मेण हीना: पशुभि: समाना'। धर्म रक्षार्थ प्राण देना हमारे देश की परिपाटी रही है। वीर प्रसविनी मेवाड़ धरा का तो आदर्श राजसूत्र रहा है - 'जे दृढ़ राखे धर्म को, तेहि राखे करतार'। वैदिक, बौद्ध एवं जैन सभी दर्शनों में धर्म का धारणार्थक प्रयोग उल्लेखनीय है। अथर्ववेद में - धर्मणा धृताम् (१२.१.१७) कहा है तो तैतिरियारण्यक में - 'धर्मो विश्वस्य जगत: प्रतिष्ठा' (१०.६३.१) एवं महाभारत के कर्ण पर्व में - 'धारणाम् धर्म इत्याहुर, धर्मो धारयते प्रजा' (६९-५९) कहा गया है। इसी प्रकार मनु की 'दशकं धर्म लक्षणम्' की बात लोक प्रसिद्ध है। और भी विभिन्न शास्त्रों में धर्म को कर्त्तव्य के अर्थ में, गुणवत्ता के अर्थ में, नैतिक मूल्य के अर्थ में लिया गया है। जैसे परोपकार करने को, दया करने को धर्म बताया है, तो अग्नि का धर्म दाहकता बताया है। अर्थात् धर्म को ग्रहण करने की, आचरण करने की वस्तु बताया है, त्यागने की नहीं परन्तु आज तो चिल्ला-चिल्लाकर तथाकथित बड़े लोग धर्म से निरपेक्ष रहने की बात कह रहे हैं, 'सेक्यूलर' होना प्रगतिशील होने का लक्षण माना जा रहा है, गर्व का विषय माना जा रहा है। भारत का साधारण आदमी चक्कर में है कि वह धार्मिक बने या सेक्यूलर? दूसरा चक्कर उसके सामने यह भी है कि आचरण का यह निषेध व्यवहार में केवल हिन्दुओं के लिए ही है, वह अपने रीति-रिवाज, यज्ञ-हवन, देवदर्शन, पूजा-पाठ, तिलक-छापा, चोटी, जनेऊ को महिमांडित करे तो वह 'साम्प्रदायिक', मन्दिर-मठ, गुरुद्वारा जाए तो साम्प्रदायिक पर ईसाई, मुसलमान ऐसा करें तो उनकी कोई बात नहीं क्योंकि वे 'अल्पसंख्यक' हैं, उन्हें विशेषाधिकार प्राप्त है, उन्हें भी, उनके द्वारा संचालित संस्थाओं को भी (संविधान की धारा ३० के अंतर्गत)।

इस छल से या भ्रमजाल से बचने के लिए हमें इस बात की तह तक जाना जरुरी है कि आखिर यह धर्म से निरपेक्ष रहने की बात कहाँ से एवं क्यों आई तथा भारत के संदर्भ में या हिन्दू के संदर्भ में यह प्रासंगिक है ?

पश्चिम में उपजे ईसाई, मुस्लिम, यहूदी इत्यादि सारे धर्म एक व्यक्ति या एक पुस्तक से बँधे हुए हैं। इसे मानने वालों के लिए उस महापुरुष या उस ग्रन्थ में किसी एक काल में कही या लिखी बात ही अन्तिम सत्य होती है। पश्चिम में जब विज्ञान की उन्नति हुई तो विज्ञान के सत्य एवं पुस्तक के कथन में अन्तर दिखने लगा तो वहाँ धर्म एवं विज्ञान में टकराव होने

लगा एवं अनेक वैज्ञानिक धर्म के विरुद्ध बात कहने का साहस करने के कारण क्रूरता के शिकार हुए। लोगों ने माना कि प्रगतिशील होने के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' यानि 'सेक्यूलर' होना आवश्यक है और चल पड़ा सेक्यूलर होने का नारा या आन्दोलन। 'मार्क्सवाद' भी इसी श्रेणी का विचार है एक तरह का ऐसा ही धर्म या सही मायने में पंथ।

परन्तु क्या भारत के या हिन्दू धर्म के सम्बन्ध के उपरोक्त बात प्रासंगिक है? नहीं। हमारे सभी धर्मशास्त्र युगानुसारी परिवर्तनशीलता के पोषक रहे हैं। हिन्दू धर्म में धर्मव्यहार एवं शास्त्र दोनों की परिवर्तनशीलता के लिए परियाप्त जगह है, युगानुसार परिवर्तन होते भी रहे हैं। कहा है- 'श्रुतिविभिन्नः स्मृतिर्विभिन्नः, नैकोमुनि यस्य वचः प्रमाणः, धर्मस्य तत्वं निहता गुहायाँ, महाजनों येन गतः स पंथः'। एक-एक कर चार वेद आए, स्मृतियाँ आईं, पुराण आए एवं और भी अनेक धर्मग्रन्थ परिवर्तन का संदेश लेकर आए- महापुरुषों ने युगानुसार धर्म की नई राह दिखाई। इसी कारण हमारा धर्म पुरातन होते हुए भी सनातन कहलाता है। चिर पुरातन पर नित्य नूतन। न किसी एक पुस्तक से बँधा हुआ, न किसी एक व्यक्ति से।

इन सबके बावजूद चूंकि पिछली दो शताब्दियों में भारत में अंग्रेजों का राज था एवं विदेशी तथा देशी अंग्रेजी पढे-लिखे लोग ही इसका संचालन करते थे जिन्हें भारत की परम्पराओं का सटीक ज्ञान नहीं था। ऐसे सारे मैकाले पुत्र एवं साथ ही मार्क्स पुत्र भी भारत में धर्मविरोधी मानस के बन गए। अंग्रेज वैसे भी यह चाहते थे कि धर्म की सत्ता के प्रति घृणा बनाये बिना भारत का नैतिक बल क्षीण नहीं होगा। अतः उन्होंने भारत के अंग्रेजी पढे-लिखे लोगों में भारत के अतीत के विषय में एवं धर्म के विषय में एक नकारात्मक दृष्टि पैदा की। ऐसे लोगों की दृष्टि में अब भारत का अतीत गौरवास्पद नहीं, घृणास्पद हो गया। वैदिक आर्यों को बाहर से आया हुआ बताकर परवर्ती सभी आक्रमणकारियों के समकक्ष लाना, हिन्दुओं के सभी धर्म ग्रन्थों एवं इतिहास को कपोल कल्पित या 'मिथ' सिद्ध करना, वैदिक ज्ञान की निन्दा करना, भारत को एक राष्ट्र की जगह अनेक राष्ट्र एवं राष्ट्रीयताओं का संगम कहना, यहाँ के वनवासियों को 'आदिवासी' कहकर प्रसिद्ध करना यानि जीवन के प्रत्येक आयाम में स्वाभिमान की जगह हीनभाव भरने के अपने प्रयत्न में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से अंग्रेज सफल हो गए एवं हमारे ये अंग्रेजी पढे-लिखे लोग या मैकाले के मानसपुत्र भी इसी भाव का गुणगान करने लगे। ज्ञान-विज्ञान के शीर्ष पर रहा यह देश, जगद्गुरु के शीर्ष आसन पर विराजमान रहा यह देश अपनी ही सन्तानों के अज्ञान, आत्म गौरव शून्यता एवं अनास्था के कारण विपथगामी बनकर भटकने को मजबूर कर दिया गया।

स्वाधीनता के संघर्ष के समय भी एवं स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भी हम इसी भटकाव के शिकार बने हुए हैं। इन्हीं लोगों ने स्वाधीनता संघर्ष के समय स्वाधीनता प्राप्ति हेतु हिन्दू-मुस्लिम एकता की अनिवार्यता का भ्रम फैलाकर यहाँ संघर्ष की जगह तुष्टीकरण का वतावरण तैयार किया

एवं फिर अखंडता की बात दोहराते-दोहराते अचानक मुस्लिमलीग के दबाव से भयभीत होकर धर्म के आधार पर विभाजन स्वीकार किया जिसका पूरा-पूरा लाभ उठाते हुए हमारे देश से अलग हुए स्थानों को तो मुस्लिम राष्ट्र घोषित कर लगभग हिन्दू शून्य बना दिया पर अपने देश में उन सब लोगों को प्रयत्नपूर्वक बने रहने दिया जिन्होंने विभाजन की मांग का समर्थन किया था। इतना ही नहीं, संविधान में ऐसे लोगों को 'अल्पसंख्यक' के रूप में विशेष दर्जा देकर सामान्य राष्ट्रवासियों से कुछ विशेष अधिकारों से भूषित किया मानो उन्होंने स्वाधीनता संघर्ष में हमारे राष्ट्र एवं समाज का कुछ विशेष उपकार किया हो ताकि हमें उनकी कृतज्ञता जतानी चाहिए। सारी दुनिया में छलना का इससे बड़ा उदाहरण कोई शायद ही मिले। इसके विपरीत जिन्होंने देश की अखंडता के लिए एवं स्वाधीनता के लिए आहुतियाँ दी पर विभाजन की योजना में वे स्वदेश का हिस्सा नहीं बन सके, उनकी हालत पर हमें तनिक भी रहम नहीं आई। आज भी वे हमारे लिए 'विदेशी' ही बने हुए हैं, जिस भूमि की आजादी के लिए वे लड़े, वह आजाद होकर भी उनके लिए पराई हो गई। कैसी सोच है हमारी? यह सोच हमें किसने दी ? क्या वे मात्र हिन्दू होने के कारण ही नारकीय जीवन जीने को अभिशिप्त नहीं हुए ? इसी सोच का नाम तो सेक्यूलरवाद है। वे हमें समझते हैं कि राज-काज में धर्म नहीं चलेगा। बंगलादेश या पाकिस्तान के हिन्दू के बारे में वकालत करना साम्प्रदायिकता है। तो फिर जिन्होंने हिन्दू और मुसलमान को आधार बनाकर देश का विभाजन स्वीकार किया, वे क्या साम्प्रदायिक नहीं हैं? क्या किसी इतिहास की भूल को संशोधन करने का सोचा ही नहीं जा सकता ?

स्वाधीनता के बाद बीते वर्षों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी में विश्व के साथ हमारे यहाँ भी प्रगति अवश्य हुई है पर सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में लगातार तीव्रगति से ह्रास हुआ है एवं सर्व स्तरों पर अनास्था गहरी हुई है। व्यक्तिगत स्वार्थ एवं भोगवाद मर्यादा की सीमायें तोड़कर करोड़ों वर्षों के रचित जीवन मूल्यों को लील जाने के लिए उन्मुक्त होकर अट्टहास कर रहा है। इसका एकमात्र उपाय है सच्चे सनातन हिन्दू धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा। यही इस राष्ट्र के शरीर का जीवन-प्राण है। पर हमारे सेक्यूलरवादी या छद्म सेक्यूलरवादी अल्पसंख्या में होते हुए भी इतने हावी हैं कि वे सहज ही ऐसा नहीं करने देंगे। ऐसे लोगों को आज हमारे संविधान से भी बल मिला हुआ है क्योंकि सन् १९७७ के आपातकाल के अन्धेरे में संविधान में भी ४२ वें संशोधन के माध्यम से सोशलिस्ट एवं सेकुलर शब्दों की प्रतिष्ठा कर दी गई। इसके चलते वे हर हिन्दू परम्परा का मुखर विरोध करने को तैयार रहते हैं। अभी पिछले दिनों राजस्थान के राजभवन में भयंकर अकाल में राहत के लिए धन एकत्रित करने हेतु पूज्य मुरारी बापू के व्यासत्व में रामकथा का आयोजन किया गया। सेकुलरवादियों ने इसका पुरजोर विरोध किया पर इसके पूर्व अन्य धर्मावलम्बियों के आयोजनों पर वे सदा चुप रहे। विरोध तो केवल हिन्दू परम्पराओं से है। अतः आज समय आ गया है कि हम अपने देश की प्रासंगिकता का ध्यान रखकर धर्म यानि हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के प्रभावी प्रचार-प्रसार के बारे में ठीक-ठीक निर्णय लें।

वास्तव में देखा जाए तो 'हिन्दुत्व' इस्लाम या ईसाइयत की तरह कोई धर्म या पंथ नहीं है। यह तो एक भू-सांस्कृतिक अवधारणा है। 'इंसाई-क्लोपीडिया' में हिन्दुत्व को सभ्यता के रूप में ही इंगित किया गया है जिसमें धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं आर्थिक सभी पहलू शामिल हैं। धर्म के रूप में यह विभिन्न प्रकार की जीवन शैलियों का संगम है तो सिद्धान्त के रूप में आस्था एवं विश्वास के नाना रूपों को अपने में समाये हुए है। विश्व के अन्य धर्मों की तरह यह न तो किसी एक देवता या ईश्वर या पैगम्बर अथवा देवदूत की पूजा, अर्चना का प्रस्ताव करता है, न किसी एक दार्शनिक विचारधारा का पक्षधर है। यह तो सतत परिवर्तनशील है, प्रगतिशील है वस्तुत: यह हर युग का मानवधर्म है। भारत में उत्पन्न सभी पंथ हिन्दुत्व में ही समाहित है अत: इसका भौगोलिक सम्बन्ध ही ज्यादा है अर्थात् हिन्दुत्व भारतीयता का ही पर्यायवाची शब्द है। कुछ लोग तो सिन्धु की सिंचित इस पवित्रभूमि को ही 'हिन्दू' शब्द के उद्गम से जोड़ते हैं वह इस शब्द में निहित भू-सांस्कृतिक व्याख्या को ही पुष्ट करता है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी अनेक निर्णयों में यह स्पष्ट किया है कि हिन्दुत्व एक जीवन पद्धति है, धर्म या रिलीजन मात्र नहीं। यह एक सार्वभौम संस्कृति का पोषक है, इसे पूजा-पद्धति या साम्प्रदायिक मान्यताओं तक सीमित नहीं किया जा सकता। हमारे युगीन ऋषि स्वामी विवेकानन्द एवं ऋषि अरविन्द का तो यह स्पष्ट मत रहा है कि सनातन धर्म के उत्थान से ही भारत का उत्थान होगा व मानवता का कल्याण होगा।

इन सबके अतिरिक्त एक बात और भी विचारणीय है। आज के विश्व में केवल आर्थिक हितों का ही नहीं, संस्कृतियों का भी संघर्ष है। ईसाई एवं मुसलमान जैसी अनुदार संस्कृतियाँ या विचारधारायें अपने-अपने पक्ष में विश्व के दर्जनों राष्ट्र का प्रत्यक्ष बल लेकर अपने से इतर धर्म या संस्कृतियों को हजम कर जाने के लिए प्रयत्नरत हैं। प्रचुर धन एवं प्रचुर संख्या में लोग इस हेतु फैले हुए हैं। पोप पाल भी अभी पिछले ही वर्ष अपनी योजना का खुले आम ऐलान करके गए हैं। इस्लाम भी धर्मान्तरण के लिए पूरे वेग से कार्य चला रहा है। क्या हमारी उदार एवं मानव मात्र के कल्याण की कामना करनेवाली संस्कृति को हम भ्रमित होकर यों ही मिट जाने देंगे ? हिन्दू संस्कृति को बचाने का दायित्व किस पर है? कौन यह दायित्व सम्हालेगा ? निश्चय ही भारत एवं भारतवासी एवं भारतवंशी हिन्दुओं का यह प्राथमिक दायित्व बनता है कि वे इस लोकल्याणी भारतीय संस्कृति या हिन्दू धर्म के पक्ष में समस्त भ्रम को त्यागकर उठ खड़े हों।

हम सभी विचारों का हमारे देश के संदर्भ में विचार कर निर्णय करें। यह घड़ी हमारे लिए गहरे चिन्तन की है, जागने की है एवं भ्रम तथा आलस्य त्यागकर विश्व के संदर्भ में भी अपनी बात दृढता से कहने की है। हमारा अतीत हमारे वर्तमान एवं भविष्य दोनों को प्रकाशित एवं प्रशस्त करने की क्षमता रखता है। ●

इक्कीसवीं सदी को नोच रहा है नंगापन

समृद्धि के संस्कृतिविहीन होने का यह स्वाभाविक परिणाम है

अभी कुछ दिन पूर्व ही समाचार पत्रों में यह समाचार पढ़कर मन को बहुत आघात लगा कि संपन्न घरानों के कुछ युवकों ने कोलकाता के साल्टलेक क्षेत्र में अपनी कार में बैठे-बैठे एक तरुण अभिनेत्री के साथ अश्लील हरकतें की, पुलिस के हस्तक्षेप से ही उस अभिनेत्री को राहत मिली, युवक थाने में जाकर जमानत पर छूटे। उस क्षेत्र में पहले भी ऐसी घटनायें घटित हो चुकी थीं। सभी युवक ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी थे, उनके परिवार भी इज्जतदार थे।

हमारा समाज ऐसा तो नहीं था पहले। कैसे इक्कीसवीं सदी में यह परिवर्तन तेजी से आ रहा है? डॉ. धर्मवीर भारती ने एक समय 'अंधा युग' की चर्चा की थी, लगता है आज तो सरासर 'नंगा युग' का दौर है। टीवी और अश्लील सामग्री से युक्त फिल्मों का तो इसमें बहुत बड़ा योगदान है ही, आर्थिक संपन्नता की अंधाधुंध दौड़, दिखावे एवं प्रचार की होड़ तथा पूर्णतः स्वकेन्द्रित भोगभरी जीवन पद्धति का भी इसमे कम योगदान नहीं है। पहले संयुक्त परिवारों के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी हर व्यक्ति को कुछ न्यूनतम आचरण पालन करने ही पड़ते थे। उसकी परिधि को लांघकर कोई सहज ही बाहर जा नहीं सकता था, परन्तु अब संयुक्त परिवार तो अपनी सत्ता खो ही चुके हैं, छोटे परिवार के मुखिया या पिता भी आज अपनी संतानों के आचरण को नियंत्रित करने में अपने को असहाय पाता है। बच्चे अब आचार-विचार, खान-पान सबमें परम स्वतंत्र हैं, उन्हें रोकने, टोकने की बात अब लगभग बीते युग की सी हो गई है। सहनशीलता क्रमशः नीचे की सीमायें छूती जा रही है। युवकों में प्रेम-विवाह एवं तलाक (छोटी-छोटी बातों पर) बढ़ते जा रहे हैं। माँ-बाप दोनों के ही अर्थोपार्जन में लिप्त रहने के कारण बच्चे उपेक्षित एवं परिवार के संस्कार से अपरिचित रहने को मजबूर हैं। डिब्बे का दूध और सरकारी शिक्षा से ही उनका जीवन पलता-बढ़ता है, यही सच्चाई है।

अतः अध्यात्म-विहीन, धर्म-निरपेक्ष एवं भोग तथा स्वार्थ-सापेक्ष वातावरण में हमारी पीढ़ी पल, बढ़ रही है। सिनेमा एवं टीवी के पर्दों पर आने वाले अभिनेता-अभिनेत्रियाँ ही इनके आदर्श पुरुष हैं। पर्दे पर दिखाये जा रहे उनके क्रियाकलाप ही इनके प्रेरक बन जाते हैं और कर बैठते हैं नादान हरकतें जो पूरे परिवार की नहीं, पूरे समाज की प्रतिष्ठा पर कालिख पोत देती है।

इससे छुटकारा पाना बहुत सहज नहीं है क्योंकि इस भोगवाद या अश्लीलता का भी एक मजबूत अर्थ-शास्त्र है जिसे बड़े पाश्चात्य देशों का प्रभावी समर्थन है जिन्होंने 'ग्लोबलाइजेशन' के नाम पर मानव देह को उपभोक्ता वस्तु बनाकर बाजार में खुला छोड़ दिया है। 'सेक्स' उसी अर्थ-शास्त्र या बाजार का प्रभावी एवं स्वाभाविक हिस्सा है। अब तो खुलेपन के नामपर इसमें प्रबल प्रतिस्पर्धा जारी है, ज्यादा से ज्यादा नंगा कैसे हुआ जाए इसकी खोज जारी है। भारतीय चिंतन में मानव देह ब्रह्म से मिलने का माध्यम मानी जाती थी। आज यह शुद्ध उपभोग की वस्तु बनकर रह गई है। अर्थ ही आज का भगवान बन गया है।

आजादी के बाद भारत में कुछेक भ्रष्ट राजनेता, भ्रष्ट सरकारी अफसर एवं भ्रष्ट व्यवसायियों की तिकड़ी के पास अकूत धन इकट्ठा हो गया है। इनकी दृष्टि में पश्चिम ही प्रज्ञावान है। वहीं का सब कुछ अनुकरणीय है, नंगापन भी। वहां का रहन-सहन, खान-पान, भाषा, सोच एवं व्यवहार ही आदर्श सभ्यता है। भारत की सभ्यता, परम्परा, संस्कृति, मर्यादा एवं सोच को वे जड़तापूर्ण एवं दकियानूसी करार देते हैं। गलत शिक्षा पद्धति के कारण यही सोच आज हमारे युवकों को भटका रही है। इस कारण वे आज ऐसा कुछ भी करने में संकोच नहीं करते जिसे हमारी पुरानी पीढ़ी के लोग करना सोच भी नहीं सकते थे। वस्तुतः हमारी नई पीढ़ी एवं बिगड़ैल समर्थों की सोच अब 'लोकल' से 'ग्लोबल' जो हो गई है। हमारे समूचे आचरणों की गिरावट इसी सोच का स्वाभाविक परिणाम है। **जैसी जिसकी दृष्टि, वैसी ही उसकी सृष्टि।** समृद्धि जब संस्कृति विहीन होगी तो उसका स्वाभाविक परिणाम यही होगा, अन्य कुछ नहीं।

प्रश्न यह है कि क्या हम भी इसके सामने घुटने टेक दें ? नहीं, यह नहीं हो सकता। हमने इतिहास में अनेक राक्षसी संस्कृतियों के नंगे नाच का सामना किया है और उन्हें पराजित कर दैवी संस्कृति की पुनर्स्थापना की है। हमारा समाज तो संयम एवं सदाचार की बानगी बनकर रहा है। इसे अपने 'स्व' को फिर से पहचानना होगा, जगाना होगा एवं थोड़े से स्वच्छन्दतावादी लोगों के विरूद्ध खड़ा होना होगा जो सारे समाज की गलत तस्वीर पेश कर रहे हैं। हमने आजादी के संघर्ष के दौर में यह करके दिखाया था, उसकी स्मृति से प्रेरणा लेकर आज भी अपने घर को ठीक कर सकते हैं, अन्यों के लिए प्रेरणा भी बन सकते हैं। यह तभी होगा जब प्रौढ़ एवं बुजुर्ग पीढ़ी अपने को 'असहाय' समझने की सोच से मुक्त कर बुराइयों के विरुद्ध डट जाए। हमारे समाज में आज भी प्रेरक सत्पुरुषों का अभाव नहीं है, आवश्यकता है हमें कुछेक बिगड़ैल स्वच्छन्दतावादियों के साथ रहने की अपनी मजबूरी को अपने कंधों से झटकने की। यह हम कर सकते हैं, करके दिखायें। ●

साम्प्रदायिक विभेद बढ़ाने को नये काले कानून की तैयारी

बहुसंख्यकों को अपने ही देश में दोयम दर्जा

साम्प्रदायिक संघर्ष रोकने के बहाने बहुसंख्यक समाज को प्रताड़ित कर अल्पसंख्यकों के तुष्टिकरण के लिए श्रीमती सोनिया गांधी की अध्यक्षतावाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद ने एक ऐसे खतरनाक विधेयक का मसौदा तैयार किया है, जो यह मानकर चलता है कि सभी स्थितियों में धार्मिक बहुसंख्यक ही अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करते हैं, अत: प्राथमिक रूप से बहुसंख्यक 'दोषी' हैं और अल्पसंख्यक 'पीड़ित'। इस विधेयक को 'साम्प्रदायिक एवं लक्षित हिंसा प्रतिरोध विधेयक २०११' नाम दिया गया है और उस 'ग्रुप' के संरक्षण की बात की गई है जो धार्मिक या भाषाई अल्पसंख्यक हो या अनुसूचित जाति अथवा जनजाति का हो। प्रथम दृष्टि में ही यह विधेयक हमारे देश के पंथ निरपेक्ष ढांचे पर जबरदस्त प्रहार है जो अपराधी के धर्म, भाषा या जाति विशेष के आधार पर उसे संरक्षण देगा या दंडित करेगा।

यह विधेयक कांग्रेस के अल्पसंख्यक तुष्टीकरण की पुरानी सभी सीमाओं को लांघकर अपना वोट बैंक सुरक्षित करने की मनसा से बढाया गया एक बेहद खतरनाक कदम है जिसमें 'ग्रुप' में वर्णित लोगों की हिंसा या घृणा का शिकार होने पर भी बहुसंख्यक समाज के अन्य लोगों को कानून का उचित संरक्षण नहीं मिल सकेगा एवं वे 'ग्रुप' के लोगों के कथन मात्र पर गिरफ्तार किए जा सकेंगे और स्वयं को निर्दोष साबित करने की जिम्मेवारी उन्हीं पर होगी। यह विधेयक इस रूप में १९२१ ई. में अंग्रेजी सरकार द्वारा लगाये गए 'रोलेट एक्ट' से भी अधिक भयावह है जिसके अंतर्गत तत्कालीन सरकार केवल संदेह मात्र पर ही किसी नागरिक को गिरफ्तार कर सकती थी एवं उस पर गुप्त रूप से मुकदमा चलाकर उसे दंडित कर सकती थी। यह विधेयक तो उससे भी अधिक खतरनाक, अलोकतांत्रिक एवं साम्प्रदायिक सद्भाव में पलीता लगाने वाला है।

यह औरंगजेबी कानून पूरे भारत में लागू होगा पर 'जम्मू एवं कश्मीर' में वहाँ की सरकार की सहमति से ही लागू होगा जहाँ भारत का बहुसंख्यक समाज (हिन्दू) अल्पसंख्यक है। साफ है कि यह पूरी कवायद हिन्दुओं से अनुसूचित जाति और जनजाति को बाँटने की

और बचे हुए हिन्दुओं को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर दंडित करने की है। सिक्ख, जैन और बौद्धों को पहले ही अल्पसंख्यक का दर्जा देकर मूल समाज से अलग कर दिया गया है। अनुसूचित जाति और जनजाति को जान-बूझकर इस विधेयक में 'ग्रुप' में इसलिए भी शामिल कर लिया गया है क्योंकि एक तो वे वोट बैंक के रूप में काम आ सकते हैं, दूसरे वे ही तो बहुसंख्यक समाज के विरुद्ध अत्याचार में संघर्ष दस्ते की हरावल होते हैं। इस कानून के अंतर्गत किसी भी भारतीय द्वारा भारत के बाहर भी अपराध करने पर उसे, उसके कानूनी अभिभावक या उत्तराधिकारी तक को दंडित करने के प्रावधान हैं।

इतना ही नहीं, 'ग्रुप' के सदस्य की मानसिक या मनोवैज्ञानिक प्रताड़ना, उसके विरुद्ध आक्रामक वातावरण बनाना, व्यवसाय में उसका बहिष्कार करना या ऐसा वातावरण बनाना जिसमें उसके लिए व्यवसाय करना कठिन हो जाए या उसकी मर्जी के बिना उसको अपना निवास स्थान छोड़ने को बाध्य होना पड़े, ऐसे में भी वह किसी बहुसंख्यक के विरुद्ध शिकायत करेगा तो शिकायतकर्त्ता को नहीं बल्कि जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा कि वह निरपराधी है। क्या इससे ऐसा नहीं लगता जैसे यह कानून या विधेयक पाकिस्तान की सरकार ने वहाँ के अल्पसंख्यकों पर लागू करने के लिए बनाया हो ?

किसी को सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि इस विधेयक को प्रारूप देने वाली राष्ट्रीय सलाहकार परिषद में वे कौन लोग हैं, जिन्होंने ऐसे विधेयक का मसौदा सुझाया है ? ये हैं- अबू सोहेल शरीफ, असगर अली-इंजीनियर, कमाल फारुखी, मंजू आलम, मौलाना नियाज फारुखी, शबनम हासमी और सैयद शाहबुद्दीन जैसे मुसलमान और जॉन दयाल, राम पुनियानी और सिस्टर मेरी स्कारिया जैसे ईसाई। परामर्श दल के अतिरिक्त एक प्रारूप समिति भी है जिसमें तीस्ता सीतलवाड़, नजमी वजीरी, पी.आई जोंस और प्रसाद सिरीवेल आदि हैं जिनके हिन्दूविरोधी मानस के बारे में सर्वविदित है।

इस विधेयक की धारा २१ के अंतर्गत एक सात सदस्यीय राष्ट्रीय प्राधिकरण होगा जिसमें अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सहित चार सदस्य 'ग्रुप' में वर्णित लोगों के ही होंगे एवं फैसले बहुमत से होंगे। इन सदस्यों को चयन करने वाली समिति में प्रधानमंत्री एवं गृहमंत्री इत्यादि के साथ संसद में स्वीकृत राजनैतिक दलों के नेता भी होंगे पर इसका भी फैसला बहुमत से होगा यानि सारा खेल शासक दल का ही होगा। अतः जिस नीयत से यह विधेयक लाया जा रहा है वह सीधा-सीधा 'मिशन-वोट बैंक' एवं 'बांटो और राज करो' के अलावा कुछ नहीं है। इस समय जबकि देश में कहीं भी साम्प्रदायिक उन्माद की घटना नहीं हो रही है, यह साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने की बजाय उसमें पलीता ही लगायेगा एवं तथाकथित 'ग्रुप' के बाहर के लोगों का जीना हराम कर देगा। सभी को अभी से पुरजोर विरोध करना चाहिए। ●

परदेशी मॉडल के विकास की मृग-मरीचिका में भ्रमित भारत : आगे कौन हवाल ?

हमारे देश में स्वराज्य आये ६ दशक से अधिक बीत गए हैं। स्वराज्य हेतु संघर्ष के समय हमने बड़े-बड़े सपने संजोये थे, नेताओं ने भी, साधारणजन ने भी। भूख, भय, भ्रष्टाचार और शोषण की समाप्ति का; ग्रामराज्य, रामराज्य और अपनी संस्कृति-सभ्यता के फलने-फूलने का। स्वराज्य का अर्थ केवल राजनैतिक सत्ता परिवर्तन करने की बात किसी के भी मन में नहीं थी, परन्तु आज यदि लेखा-जोखा करने बैठें तो यह बात सीधे-सीधे सामने दिखाई देती है कि हम अपनी राह चुनने में पूरी तरह भटक गए हैं और हमारा देश और समाज एक ऐसे मुकाम पर आ गया है जिसे यदि सोच-विचार कर मोड़ा नहीं गया तो भयंकर दुष्परिणाम भोगने पड़ेंगे। परदेशी मॉडल पर किया गया विकास कहीं हमारे विनाश का तो कारण नहीं बनेगा ? 'यूनान, मिश्र, रोमां ' की तर्ज पर हमारा देश कहीं अपनी पहचान तो नहीं खो बैठेगा ? हालात तो ऐसे ही हो रहे हैं।

स्वराज्य प्राप्ति के लगभग चार दशक पूर्व गांधीजी ने 'हिन्द-स्वराज्य' नामक अपनी पुस्तक में देशवासियों को इसकी चेतावनी भी दी थी। पूरे देश में इस पुस्तक की शताब्दी भी मनाई जा रही है। हमारे सरकारी प्रचार माध्यम में गांधीजी सड़क, मोहल्लों के नाम से लेकर सिक्कों, डाक-टिकटों एवं नोटों के माध्यम से पूरी तरह छाये हुए हैं, पर विकास की दिशा प्रयत्न पूर्वक उनके विचारों से सर्वथा विपरीत चलाई गई है।

'हिन्द-स्वराज्य' नामक पुस्तक में वर्णित गांधीजी के विचारों को संक्षेप में जान लेना इस संदर्भ में बहुत उपादेय होगा :

१) 'मुझे लगता है कि अगर हिन्दुस्तान आधुनिक सभ्यता का त्याग करेगा तो उसे लाभ ही लाभ होगा। आज की सभ्यता की खोज है कि शरीर-सुख कैसे मिले ? इससे दूर रहना चाहिए। ....सभ्यता वह आचरण है जिसका मतलब है नीति का पालन करना, अपने मन व इन्द्रियों को बस में रखना ....इससे जो उल्टा है वह बिगाड़ करने वाला है।'

२) 'बड़े शहर खड़े करना बेकार की झंझट है। उसमें लोग सुखी नहीं होंगे, उनमें धूर्तों की टोलियाँ और वैश्याओं की गलियाँ पैदा होंगी। गरीब अमीरों से लूटे जायेंगे।'

३) 'हमें अंग्रेजों ने सिखाया कि जब वे हिन्दुस्तान में नहीं थे तब हम एक राष्ट्र नहीं थे। यह बात बिल्कुल बेबुनियाद है। हम उनके आने के पहले से एक राष्ट्र थे, हमारे विचार एक थे, हमारा रहन-सहन एक था। भेद तो हमारे बीच उन्होंने ही पैदा किए।'

४) 'हमारे यहाँ भी दोष हैं, लेकिन उन्हें कोई सभ्यता नहीं कहता है। वे सभ्यता के बावजूद कायम रहे हैं। उन्हें दूर करने के प्रयत्न हमेशा हुए हैं और होते ही रहेंगे.... हर सभ्यता पर आफतें आती हैं।'

स्वराज्य के पहले हमारे अधिकांश नेताओं के लिए संघर्ष का आधार ये ही मान्यतायें थीं पर स्वराज्य आने पर परकीय या अंग्रेजी सभ्यता को आदर्श मानकर चलने वाले पं. जवाहरलाल नेहरू के हाथों में बागडोर आ जाने के कारण अंग्रेज और अंग्रेजी सभ्यता के साथ संघर्ष का स्थान पहले 'सहयोग' ने और फिर 'नकल' ने ले लिया। स्वाधीनता के बाद सर्वोच्च सत्ता की कमान एवं सेना की कुंजी भी कुछ दिन अंग्रेज प्रतिनिधियों के हाथों में रही, हम कामनवेल्थ के सदस्य बने एवं तब से अंग्रेजी भाषा, व्यवस्था एवं सोच हमें उत्तरोत्तर अधिक से अधिक जकड़ती गई। लगता है आज के बीस वर्ष बाद देशी भाषायें कहीं इस देश से लोप ही न हो जाएँ ? सभ्यता एवं संस्कृति का भी वही हाल होगा अगर हमने करवट बदलकर 'यू' टर्न नहीं लिया।

कोई भी देश केवल सत्ता परिवर्तन के लिए ही संघर्ष नहीं करता। संस्कृति ही देश का प्राण तत्व होती है।

'यूनान, मिश्र, रोमां, सब मिट गये जहां से,
बाकी मगर है अब तक नामो निशां हमारा'

इन पंक्तियों का गूढ़ार्थ क्या है ? पराधीनता में भी संस्कृति जीवित रहने के कारण हमारा 'नामोनिशां' बाकी था। आज परदेशी या पश्चिम के मॉडल की अंधाधुंध नकल और अपने बारे में 'आत्महीनता' की सोच ने इस प्राचीनतम देश की साठ वर्ष में ही ऐसी दुर्दशा कर दी है कि हम विचारों की दृष्टि से दिवालिया हो गए हैं। अत्यधिक रासायनिक खादों के उपयोग से हमारा अन्न विषयुक्त एवं धरती बंजर होती जा रही है; गंगा, यमुना सहित सारी नदियों का पानी शहरी गंदे नालों एवं कारखानों के कचरे के कारण पीने योग्य नहीं रह गया है; बड़े-बड़े बांधों ने उनके प्रवाह को भी मंद कर दिया है। पेट्रोल के अमर्यादित उपयोग एवं कार्बन गैसों के उत्सर्जन से पूरा वायुमंडल दूषित हो गया है, इससे सभी चिन्तित हैं।

परन्तु चिन्तित होना तो कोई उपाय नहीं है। इसके विकल्प का विचार करना पड़ेगा। ग्राम विकास और गौवंश की रक्षा इस पूरे पर्यावरण को प्रदूषण से बचाये रखने में महत्वपूर्ण

भूमिका पीछे भी निभाती रही है, आज भी निभा सकती है। गोबर एवं गोमूत्र धरती तथा फसल के रक्षा कवच हैं। भार ढोने के लिए एवं अन्य अनेक कार्यों के लिए बैलों का उपयोग हमें प्रदूषण से बचा सकता है। भारतीय संस्कृति की रक्षा ग्राम संस्कृति से ही संभव है। बड़े शहरों का विकास संवेदनहीनता का ही विकास है। पश्चिमी ढंग पर स्थापित एवं संचालित शिक्षा एवं चिकित्सा पद्धति पर गांधीजी ने भी खूब नाराजगी प्रकट की थी। हमने न आयुर्वेद को प्रोत्साहन दिया, न योग व प्राणायाम को, न हमारे प्राचीन ग्रन्थों में संचित ज्ञान-विज्ञान को। हम तो चले ही इस विचार के साथ कि हमारा सब कुछ पुराना है, फेंकने लायक है और पश्चिम का सब कुछ अच्छा एवं ग्रहण करने लायक है, परन्तु प्रकृति तो अपना काम करती ही है। आज हम एक ऐसी मंजिल पर आकर खड़े होगए हैं, जो हमें सोचने को मजबूर कर रही है कि हमारी आगे की राह क्या हो ?

अंधाधुंध उपभोग की राह हमें बदलनी ही पड़ेगी। वैज्ञानिक हमें चेतावनी दे रहे हैं। कोई कह रहा है कि आगे की लड़ाई पानी के लिए होगी। पर पानी के दुरुपयोग को कैसे रोका जाए इसके लिए हम किंचित भी प्रयत्नशील नहीं हैं। राजस्थान ने पिछले दिनों तक कैसे एक-एक बूंद पानी को सहेजा है, यह हमारे लिए मार्गदर्शक बन सकता है। आज तो वहाँ भी सोच बदल रही है। सर्वत्र भूगर्भ जल का स्तर गिर रहा है, सतह का पानी प्रदूषित हो रहा है, अत: पानी बेचने वाले मजा लूट रहे हैं। जल, जमीन और वायुमंडल क्रमशः अधिकाधिक प्रदूषित होते जा रहे हैं। कंकरीट के मकानों की बाढ़ आ रही है और कृषि की भूमि घटती जा रही है, पशुओं के लिए चारागाह बचे ही नहीं हैं।

जीवन की सार्थक एवं उदात्त कल्पनाओं की जगह सर्वत्र व्यावसायिकता छा गई है। यहाँ तक कि पारिवारिक सम्बन्ध भी इसकी चपेट से बचे नहीं हैं। शिक्षा एवं चिकित्सा तथा जीवन-यापन सामान्य व्यक्ति के लिए आज कठिन हो गया है, भविष्य में और भी भयावह होने के संकेत हैं। अत: क्या अब भी अपने इस तथाकथित विकास की दिशा एवं दशा की छलना का विचार कर चेतने का समय नहीं आ गया है ? भारत के पास अभी भी अपनी परखी हुई राह पर लौटने का विकल्प मौजूद है। उसी में भारत का और पूरी मानवता का कल्याण निहित है। भारत नकल से नहीं अपने परखे हुए शास्वत मार्ग से ही सुखी बनेगा। ●

हिन्दी पुस्तकों के घटते पाठक : कारण और निवारण

साहित्यिक ललक जगाने के स्रोत ही सूखते जा रहे हैं

हिन्दी साहित्यिक पुस्तकों के पाठक एवं ग्राहक क्रमशः कम होते जा रहे हैं। यह हम सभी अनुभव कर रहे हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में साहित्यिक दुकानों की एक समय भरमार हुआ करती थी। उनमें से अधिकांश ने आज अपना व्यवसाय बंद कर दिया है या बदल लिया है या वे अब केवल स्कूली पुस्तकों की दुकानें होकर रह गई हैं। जिस चीज के ग्राहक नहीं रहेंगे उसका यही हाल होना स्वाभाविक ही है पर मन में प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? जब यहाँ विदेशी शासक थे तो हिन्दी की अच्छी पुस्तकों के पाँच-पाँच, सात-सात हजार के संस्करण निकलते थे एवं बिक जाते थे। लोग नए प्रकाशन की बाट जोहते रहते थे। जिनके पास पुस्तकें खरीद कर पढ़ने की पर्याप्त सुविधा नहीं होती थी वे पुस्तकालयों में लाइन लगाकर पुस्तकें ले जाते थे एवं समय पर वापस नहीं कर पाते जो जुर्माना भी भरते थे। दूसरे पाठकों की मांग रहने पर कई बार तो दो बार से अधिक किसी पुस्तक को एक ही व्यक्ति को देना संभव भी नहीं होता था। पुस्तकों के भीतर आवा-जाही अंकित करने वाले कार्ड शीघ्र ही भर जाते थे। परन्तु आज यह अवस्था एकदम पलट गई है। पुस्तकों का ही नहीं हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का हाल भी इससे भिन्न नहीं है। हमारे देखते-देखते एक-एक कर अच्छी हिन्दी पत्रिकाओं ने दम तोड़ दिया है। ऐसा क्यों हुआ ? स्वाभाविक अपेक्षा तो यह थी कि आजादी के बाद हिन्दी पुस्तकों एवं पत्रिकाओं के पाठक एवं ग्राहक बढ़ते, इनका प्रचार-प्रसार बढ़ता।

कुछ लोगों का कहना है कि अंग्रेजों के जमाने में हिन्दी भाषा भी हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई का एक हथियार था अतः लेखक, पत्रकार सभी 'मिशन' से काम करते थे। काम के पीछे साधना एवं तपस्या थी, उच्चादर्श थे, जो जन-जन को इनसे जुड़ने के लिये प्रेरित करते थे। आज मिशन की जगह 'कमीशन' ने ले ली है। कई प्रकाशक केवल सरकारी खरीद के लिए ही पुस्तकें छापते हैं। चार-पाँच गुणा मूल्य छापते हैं। पचास से साठ प्रतिशत तक अफसरों को दक्षिणा देते हैं एवं मात्र उतनी ही पुस्तकें छापते हैं जितनी सुविधा से सरकारी दफ्तरों में बेच पाते हैं। मार्च के महीने में सारा कूड़ा करकट निकाल देते हैं, क्योंकि बजट की राशि खर्च करने हेतु इसी महीने में अफरा-तफरी मचती है। अतः प्रकाशकों को न जनता से कोई सरोकार

रहता है, न स्तरीय प्रकाशन से। वास्तव में ऐसे प्रकाशक जन सामान्य के लिए छापते ही नहीं है। देखने में भी यह आता है कि जैसी पुस्तक बंगला या अन्य कतिपय भाषाओं में पचास रुपये मूल्य की आती है, वैसी ही पुस्तक हिन्दी में दो सौ रुपये या ढाई सौ रुपये की होती है। जहाँ-जहाँ सरकार एवं सरकारी अफसरों का बस चल गया, तबाही तो होनी ही है। यह स्वीकारने में तनिक भी असमंजस नहीं है कि अच्छे उद्देश्य से किये गए इस काम ने अकेले ही हिन्दी का सबसे अधिक अहित किया है। इसमें सबसे उपेक्षित हुआ है बेचारा लेखक जिसे मामूली रायल्टी एवं छ से दस तक पुस्तकें लेखक के नाते उपहार स्वरूप भेंट मिलती हैं। अत: ऐसे में अच्छे लेखक इस दायरे से क्रमश: बाहर होते जा रहे हैं।

उपरोक्त बात सही होते हुए भी यह एकमात्र कारण नहीं है। रोग की जड़ें और भी गहरी हैं। इससे भी बड़ा कारण यह है कि हिन्दी साहित्य के प्रति ललक या चाव जगाने वाले हमारे स्रोत या केन्द्र ही सूखते जा रहे हैं। हम देख रहे हैं कि धीरे-धीरे हिन्दी माध्यम के विद्यालयों की जगह गली-गली में कुकुरमुत्ते की तरह 'अंग्रेजी माध्यम' से पढ़ाई के केन्द्र उगते जा रहे हैं। छोटे-छोटे गाँवों तक में भी। जब शिक्षा का माध्यम ही हिन्दी नहीं रहेगी तो हिन्दी साहित्य को कौन पढ़ेगा? इसके साथ ही हमारी नई पीढ़ी साहित्य की बजाय 'अर्थकरी शिक्षा' जैसे वाणिज्य या विज्ञान विषयों की ओर जरूरत से ज्यादा ही झुक गई है। लड़कियाँ भी इसका अपवाद नहीं रही हैं। अत: हिन्दी साहित्य का पठन-पाठन एकदम पर्दे के पीछे चला गया है एवं आज की पाँच वर्ष की पौध 'चौसठ' नहीं समझती, 'सिक्सटी फोर' सहजता से समझती है एवं इसमें लज्जा के बजाय वह और उसके माता-पिता भी गर्व बोध करते हैं। आजादी के संघर्ष काल में हिन्दी साहित्य के प्रति ललक पैदा करने में समाचार पत्र भी बहुत सहायक होते थे। उस समय अधिकांशत: हिन्दी के विद्वान ही पत्रों के संपादक होते थे अत: वे दूसरे विद्वानों को आदर देकर अपने पत्र में छापते भी थे एवं उनकी अच्छी कृतियों की अपने पत्रों में महत्व के साथ चर्चा करते थे। आज तो समाचार पत्र शुद्ध रूप से एक व्यवसाय बन गया है जिसमें साहित्य या साहित्यकार के लिए लगभग कोई स्थान ही नहीं है। सब कुछ राजनीति एवं राजनीतिज्ञों के इर्द-गिर्द घूमता है। मुख्यत: उन्हीं की बात छपती है, उनकी छोटी से छोटी बात भी महत्व देकर प्रसारित की जाती है एवं बची-खुची जगह व्यावसायिक समाचार, खेल जगत, सिनेमा जगत एवं अपराध जगत को समर्पित हो जाती है। सत् साहित्य या सत् पुरुषों की खबर तो प्रयत्न करके छपवा लेनी पड़ती है, व्यक्तिगत सम्बन्ध से या विज्ञापन से। एक बार एक साहित्यिक गोष्ठी में एक वक्ता ने जब यह शिकायत की कि पिछले सप्ताह ही स्वामी विवेकानन्द की जयन्ती थी पर हिन्दी के एक भी समाचार पत्र ने इसकी सुध नहीं ली तो श्रोताओं में से एक सज्जन ने खड़े होकर व्यंग्य करते हुए कहा

कि क्या 'विवेकानन्द' किसी को विज्ञापन भेजता है जो उसे छापें ? यह बड़ी भयंकर स्थिति है पर बहुतांश में सत्य है। विज्ञापन भी साहित्यिक पत्रों को नहीं, व्यावसायिक पत्रों को ही अधिक मिलते हैं, इसी कारण एक-एक कर साहित्यिक पत्रिकाएँ बंद हो चली हैं। अच्छे साहित्य के प्रकाशन पर कोई सूचना या समीक्षा तक नहीं होती तो लोग उस ओर कैसे आकर्षित हो। इस जानकारी के स्रोत के सूखने के कारण भी साहित्यिक पुस्तकों के पठन-पाठन पर गहरा असर पड़ा है।

कुछ बड़े हिन्दी समाचार पत्रों में इन दिनों एक और भी दुखद होड़ मची हुई है, भाषा को भ्रष्ट करने की। वे प्रगतिशील दिखना चाहते हैं, अंग्रेजी शब्दों को अपने पत्रों में जबरदस्ती ठूँस कर। इन हिन्दी पत्रों के विषयवार शीर्षक अब अंग्रेजी में छपने लगे हैं एवं क्रमशः यह रुझान बढ़ता जा रहा है। कुछ साक्षात्कारों में भी अब वाक्य के वाक्य अंग्रेजी भाषा में चला रहे हैं, यह दिशाहीनता की पराकाष्ठा है।

कोढ़ में खाज की तरह रही सही कसर दूरदर्शन एवं उसके सुरसा के मुँह की तरह बढ़ने वाले नए-नए चैनलों ने पूरी कर दी है। पहले काम-काज के बाद अवकाश के समय में लोग साहित्य पढ़कर अपना समय व्यतीत करते थे। अब दूरदर्शन ने इस पर जबरदस्त धावा बोल दिया है। अगर कोई अपवाद स्वरूप व्यक्ति पढ़ना भी चाहे तो उसके घर के बाकी लोग संगठित होकर टीवी चलाकर उसे मजबूरन पढ़ने से विरत कर ही देंगे। आजकल तो बच्चे भी बड़े बन रहे हैं इस मामले में।

इन सबके बावजूद भी पुस्तकों की उपादेयता किंचित भी कम नहीं हुई है। उसका स्थान कोई दूसरी चीज ले ही नहीं सकती। इस वातावरण से भी लोग ऊब रहे हैं, और भी ऊबेंगे एवं पुस्तकों की शरण में आने को मजबूर होंगे। अगर हमने अपने प्रयत्न नहीं छोड़े तो लोग अवश्य पुस्तकों की ओर लौटेंगे। पुस्तक मेले, पुस्तक प्रदर्शनी एवं साहित्य पर आधारित गोष्ठियाँ एवं प्रवचन - भाषण पुनः सूखते हुए स्रोतों को प्रवाहित कर सकते हैं। हमने सीमित दायरे में इस दिशा में सार्थक प्रयोग अपने एवं अपने मित्रों द्वारा संचालित पुस्तकालयों के माध्यम से किए हैं एवं हमें उसके सुफल भी मिले हैं। और भी अधिक मात्रा में व्यापक स्तर पर ऐसे साहसी प्रयत्नों की आवश्यकता है। सत् साहित्य के बिना हम अच्छे समाज की कल्पना ही नहीं कर सकते। ●

संस्कृति और सुरक्षा दोनों ही दृष्टि से रामसेतु की रक्षा जरूरी

सरकार रामसेतु तोड़ने का दुराग्रह छोड़ें : विकल्प मार्ग पर विचार करें

विगत कुछ दिनों से श्रीरामसेतु लोगों की चर्चा का केन्द्रबिन्दु बना हुआ है। लोग इस बात से हैरान है कि जब सारी दुनिया के देश अपने-अपने ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व के स्मारकों के संरक्षण हेतु जी-जान से जुटे हुए हैं और अपने देश में भी आगरा के ताजमहल एवं कोलकाता के विक्टोरिया मेमोरियल के पत्थरों पर प्रदूषण के कारण धब्बे न पड़ जाएँ इस हेतु पर्यावरणविद् एवं न्यायालय तक चिन्तित हो रहे हैं, तब यह अत्यन्त आश्चर्य एवं दुःख की बात है कि लगभग साढ़े सत्रह लाख वर्ष पुराने एवं विश्व भर के हिन्दुओं की आस्था एवं श्रद्धा के केन्द्र श्रीरामसेतु को तोड़ने हेतु भारत की संप्रग सरकार उतावली हो रही है। हमारे प्रधानमंत्री एवं श्रीमती सोनिया गांधी जुलाई २००५ ई. में ही इसे हरी झंडी दिखा चुके हैं। पर उसे तोड़ने वाली मशीनों के बारबार टूट जाने के कारण अभीतक इसे कोई बड़ा नुकसान नहीं हो पाया है। पिछले दिनों अपने इसी उतावलेपन में सरकार ने प्रभु श्रीराम के ऐतिहासिक अस्तित्व तक को नकारने की शपथ पर उच्चमत न्यायालय में दाखिल कर दिया। इसकी स्वाभाविक तीखी प्रतिक्रिया होनी ही थी। लोगों के गुस्से को आंककर विधिमंत्री श्री हंसराज भारद्वाज ने अपनी भूल मानते हुए दो दिन बाद शपथ पत्र वापिस ले लिया एवं कहा कि श्रीराम भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग हैं। ११ सितम्बर से १३ सितम्बर २००७ ई. तक चली तीन दिन की रामलीला ने हमारे कर्णधारों की सेकुलर सोच की विभ्रमित दिशा का पर्दाफाश करके रख दिया। भारत की आम जनता सोचते ही रह गई कि इस सेकुलर सोच पर वह हँसे या रोये। नया शपथ पत्र अभी दाखिल करना बाकी है। न जाने वह क्या गुल खिलायेगा ? अतः जागते रहने और जगाते रहना आवश्यक है।

भारत के व्यावसायिक हितों के लिए 'सेतु समुद्रम योजना' का विचार हो इस पर किसी को भी आपत्ति नहीं है, पर रामसेतु जैसी सांस्कृतिक अमूल्य धरोहर को तोड़ने का तो विचार करना ही पागलपन है। विशेषकर उस स्थिति में जबकि विशेषज्ञों ने इसके लिए वैकल्पिक प्रस्ताव भी सुझाये हैं जिनमें रामसेतु को कायम रखकर ही सुरक्षा एवं व्यावसायिक दोनों हितों को पूरा

किया जा सकता है। देश के लोग श्रीरामसेतु को क्षति पहुँचाने के विरुद्ध हैं, 'सेतु समुद्रम् योजना' के विरोध में नहीं जैसा कि निम्न वक्तव्यों से स्पष्ट है -

१) "हम सेतु समुद्रम् प्रकल्प का विरोध नहीं कर रहे हैं, यह प्रकल्प रामसेतु तोड़े बिना भी पूरा किया जा सकता है। श्री रामसेतु तोड़ने से न केवल विश्व के सबसे बड़े थोरियम भंडार नष्ट हो जाएँगे बल्कि सुनामी की लहरों से केरल की रक्षा भी संभव नहीं हो पाएगी और सबसे बढ़कर भारत दुनिया की एक महान सांस्कृतिक धरोहर खो बैठेगा।" – **श्री अशोक सिंघल**

२) "हमारा सरकार को यह सत्परामर्श है कि वह एक समिति का अविलम्ब गठन कर उसे परियोजना का वैकल्पिक मार्ग तैयार करने का निर्देश दें जिससे देश के वाणिज्यिक लक्ष्यों की पूर्ति के साथ-साथ पवित्र श्री रामसेतु को भी नष्ट होने से बचाया जा सके।"
– **रा. स्व.संघ का लखनऊ प्रस्ताव**

३) "भाजपा इस प्रकल्प का विरोधी नहीं है, पर अपने देश की प्राचीनतम सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण को लेकर चिन्तित है, जो मेरे अनुसार वैश्विक विरासत घोषित की जानी चाहिए। हम मानते हैं कि अपनी प्रचुर और विशिष्ट विरासत का संरक्षण हमारे देश की आर्थिक प्रगति जितना ही महत्वपूर्ण है। ....नहर का मार्ग, उसका बिना सोचे-समझे निर्धारण और बिना उचित अध्ययन के काम शुरु किए जाने पर ही सवाल खड़ा हुआ है।"
– **डॉ. मुरली मनोहर जोशी**

४) "श्रीरामसेतु तोड़ने की बजाय **पम्बन** और **धनुषकोटि** के बीच १५ किलो मीटर मुख्यभूमि में खुदाई द्वारा रास्ता बनाकर सेतु समुद्रम् का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार से एक महान विरासत भी बचेगी और सेतु समुद्रम् परियोजना भी पूरी हो सकेगी। किसी भी सुनामी तूफान के समय श्री रामसेतु से भारत के तटों की रक्षा होगी।"
– **डॉ. सुब्रह्मण्यम स्वामी**

५) "मैं बहुत तीव्रता से महसूस करता हूँ कि इस प्रकार के प्रकल्पों का भूगर्भीय जांच ही नहीं, बल्कि धार्मिक भावनाओं के सम्मान की कसौटी से भी गुजारकर फैसला लेना चाहिए।" – **न्यायमूर्ति के.टी. थामस** (सर्वोच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश)

६) "मैं पुरातत्व विभाग द्वारा उच्चतम न्यायालय में दिए गए शपथ पत्र से पीड़ित ही नहीं, स्तब्ध हूँ। कालचक्र प्रत्येक मौलिक प्रमाण को खा जाता है फिर भी आश्चर्य है कि रामसेतु बचा हुआ है और रामायण की घटनाओं की साक्षी दे रहा है.... रामसेतु के बहाने रामायण के पात्रों को काल्पनिक बताकर केन्द्र सरकार ने एक बार फिर से हिन्दुओं को अपार मानसिक क्लेश दिया है।" – **नरेन्द्र कोहली**, वरिष्ठ साहित्यकार

श्रीरामसेतु युगों से हिन्दुओं की आस्था का केन्द्र रहा है। बाल्मीकि रामायण एवं पुराणों से लेकर तुलसी के रामचरित मानस तक विभिन्न ग्रन्थों में इसके निर्माण का स्पष्ट उल्लेख है। १५वीं शताब्दी तक यह भारत और श्रीलंका के बीच पैदल आवगमन का मार्ग भी रहा है। १४८० ई. में आए भयंकर तूफान में यह समुद्र में चला गया। धनुषकोटि जाकर आज भी इस ध्वंस का अंदाजा लगाया जा सकता है।

नासा के द्वारा अंतरिक्ष से लिए गए चित्रों से पहले भी अंग्रेजी राज के कालखंड में मद्रास प्रेसीडेन्सी की ग्लासरी (सन् १८०३ ई.) में रामेश्वरम् के निकट ३० मील लम्बे और सवा मील चौड़े सेतु के होने का उल्लेख है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रथम महासर्वेक्षक जेम्स रैनल द्वारा १७८८ ई. में प्रस्तुत नक्शे में इसे **रामर ब्रिज** कहा गया था, जिसे बाद में १८०४ ई. में बदलकर आदम ब्रिज कहा गया।

ब्रिटिश नौ सेना के कमान्डर ए.डी. टेलर ने १८६० ई. में बंगाल की खाड़ी से हिन्द महासागर तक गहरी खुदाई करने एवं एक जलमार्ग बनाने का प्रस्ताव किया। तब से अनेक बार समितियाँ बनी, ढेर सारे विकल्प भी सुझाये गए। १९६० ई. में भी जब 'सेतु समुद्रम् परियोजना' पर विचार प्रारंभ हुआ तो ९ ऐसे स्थानों का चयन किया गया जहाँ से जहाजों के लिए रास्ता बनाया जा सकता है। १९६१ ई. में इनमें से ६ स्थानों को उपयुक्त माना गया। सरकार ने इसमें से तीसरे, पाँचवे एवं छठे स्थान को चुना जिस पर रामसेतु पड़ता है। सरकार के लिए पहले, दूसरे एवं चौथे स्थान का विकल्प भी खुला है, जिसमें रामसेतु को नुकसान नहीं पहुँचता है, पर संप्रग सरकार ने जल्दीबाजी में न तो विकल्पों का विचार किया, न पर्यावरणविदों एवं विशेषज्ञों की ही राय ली। हिन्दुओं की आस्था का तो उनके लिए कोई महत्व ही नहीं है।

सुनामी की आशंका वाले तमिलनाडु, केरल एवं कर्नाटक के लोगों की सुरक्षा का विचार तो विचारणीय है ही, रामसेतु के दोनों ओर जमा रेत में पाये जाने वाले थोरियम के विशाल भंडारों से ही हमारी आगे की एक सौ वर्षों तक की ऊर्जा आवश्यकताएँ पूरी होंगी। इनकी उपयोगिता पर विचार न करना तो सरासर भारत के भविष्य एवं सुरक्षा के साथ खिलवाड़ करना है। चर्चा है कि रामसेतु को तोड़कर अमेरिका इस भंडार का फायदा उठाने की फिराक में है। एक दूसरा महत्वपूर्ण सवाल इस क्षेत्र को 'ऐतिहासिक' से अन्तर्राष्ट्रीय श्रेणी में ढकेल देने का भी है, जिसे भली प्रकार समझने का आवश्यकता है।

भारत और श्रीलंका पिछले कई दशकों से रामसेतु के दक्षिण भाग में स्थित मन्नार की खाड़ी, (Gulf of Mannar), उत्तरी भाग की पाक स्ट्रेट (Palk Strait) एवं पाक बे (Palk Bay) को 'ऐतिहासिक' एवं आन्तरिक क्षेत्र मानते आये हैं। अमेरिका तीनों क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय

मानता है एवं 'ऐतिहासिक' मानने से इन्कार करता है। रामसेतु तोड़े जाने से इस क्षेत्र की यह मान्यता स्वत: स्खलित हो जाएगी एवं यह जलमार्ग अन्तर्राष्ट्रीय सागर सीमा के अत्यन्त निकट आ जाने के कारण भारतीय तटरक्षक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के बन्धन में आ जाएँगे। १९५८ ई. में संयुक्त राष्ट्र संघ के सागर विषयक कानूनों पर हुए सम्मेलन में यह प्रस्ताव पारित किया गया था कि जिन सागर क्षेत्रों को 'ऐतिहासिक' घोषित किया जाएगा वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू नहीं होंगे अत: इससे भारत तथा श्रीलंका के मछुआरों, नौकाओं एवं तटरक्षकों को एक-दूसरे के सागर क्षेत्र में आने जाने की निर्बाध सुविधा होगी। दोनों देशों में अभी तक ऐसा ही करार है। अमेरिका इसे 'अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र' बनाकर अपने प्रभाव की वृद्धि करना चाहता है।

भारत की हिन्दू पहचान, गौरवपूर्ण इतिहास एवं इसके ऐतिहासिक स्मारकों को समाप्त करने के प्रयत्न पिछले एक हजार वर्ष से निरन्तर जारी हैं। रामसेतु या रामर ब्रिज का प्रचलित नाम बदलकर 'एडम्स ब्रिज' कर देना उसी षड़यन्त्र का एक अंग है। विवेकानन्द शिला स्मारक के समय भी ऐसा ही एक असफल प्रयत्न हुआ था। अंग्रेज तो पराये थे पर आज भी वही मानसिकता शीर्ष पर बैठे कुछ लोगों को घेरे हुए है। शिक्षा के सेकुलरीकरण, अल्प संख्यकों के तुष्टीकरण एवं अर्थ-व्यवस्था के वैश्वीकरण के माध्यम से हमारे प्रशासन तंत्र पर ऐसे लोग हावी हैं जो उसी मानसिकता, योजना एवं षड़यन्त्र की कहानी को आगे बढ़ा रहे हैं। समूचा संप्रग कुनबा एवं तथाकथित द्रविड नेता इसी सोच के शिकार हैं। 'इंडिया' आजादी की सांस ले रहा है पर 'भारत' अभी भी अभिशप्त है। हमें इसे भली प्रकार समझना होगा एवं पूरी ताकत लगाकर, लोगों को जगाकर इस षड़यन्त्र को असफल करना ही होगा। ●

चीन की चुनौतियों के प्रति हमारी उदासीनता आत्मघाती

चीन के विस्तारवादी इरादों का ठीक-ठीक आकलन करने में स्वाधीन भारत का शीर्ष नेतृत्व सदा ही चूकता रहा है जिसके परिणामस्वरूप केवल हिमालय क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि चीन भारत को आज सब तरफ से घेरता नजर आ रहा है। हिन्द महासागर में भी उसकी सामरिक गतिविधियाँ काफी तेज हो गयी हैं। म्यांमार (बर्मा) के कोको द्वीप पर तो उसने अपना राडार भी स्थापित कर लिया है, ताकि भारत के सम्पूर्ण पूर्वी तट पर निगरानी रखी जा सके और इधर हम भावुकता और सदाशयता की चादर ओढ़े इन चुनौतियों का मुकाबला करने की प्रभावी रणनीति बनाने में उदासीन ही नहीं, हतप्रभ नजर आ रहे हैं।

चीन की चुनौतियाँ आर्थिक एवं सामरिक दोनों ही क्षेत्रों में गहरी हैं। भारत का पूरा बाजार सब प्रकार के सस्ते (सबसिडाइज्ड) चीनी सामानों से पटा पड़ा है। हमारे लोग उन्हें बेहिचक खरीद रहे हैं और उसके परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में देशी कारखाने क्रमशः बंद होते जा रहे हैं। यह केवल छोटे कारखानों या नित्य प्रयोजनीय सामानों तक ही सीमित नहीं है। आज तो देश में चाहे रिलायंस का पावर प्लांट लग रहा हो या कलकत्ता इलेक्ट्रिक का, बी.एस.एन.एल. का टेलीफोन एक्सचेंज लग रहा हो या एयरटेल प्रभृति गैर सरकारी कम्पनी का, एक बड़े हिस्से की ठेकेदारी चीनी कम्पनियाँ ही ले जा रही हैं। एक समाचार छपा था कि कलकत्ता इलेक्ट्रिक का एक हजार करोड़ के नये पावर प्लांट का ठेका चीनी कम्पनी ले रही है। अनुमानतः लगभग साढ़े तीन लाख करोड़ का चीनी सामान प्रति वर्ष भारत में खप रहा है और हमारी अर्थव्यवस्था की नींव को हिला रहा है, पर सरकार उसे नियंत्रण में लाने के बजाय असीमित व्यापार सुविधाएँ देती जा रही है।

सामरिक दृष्टि से तो भारत के प्रति चीन का रवैया निरन्तर अधिक से अधिक आक्रामक होता जा रहा है। चीन में माओ की सरकार अक्टूबर १९४९ ई. में सत्ता में आयी और आते ही उसने पहला काम 'तिब्बत के लोगों की मुक्ति' के नाम पर तिब्बत को पूरी तरह हड़पने का किया। सरदार पटेल, डॉ. राम मनोहर लोहिया एवं गुरुजी गोलवलकर की चेतावनियों के बावजूद तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने 'शांति दूत' बनने के ख्वाब में तिब्बत में भारत के सारे प्रशासनिक अधिकार जो उसे १९०७ ई. में संधि के अन्तर्गत प्राप्त थे, चीन को सौंप दिये और फिर १९५४ ई. में उसे और भी पुख्ता करने के लिए तत्कालीन

प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई के साथ 'पंचशील' के समझौते पर हस्ताक्षर कर चीन की मनचाही इच्छाओं पर मुहर लगाकर भारत के लोगों को भ्रमित कर दिया जिसका दुखद परिणाम १९६२ ई. के बर्बर चीनी आक्रमण के रूप में देश ने झेला जिसमें चीन ने हमारी ३८,००० वर्ग किलोमीटर भूमि हथिया ली। इसके पूर्व ५,२०० वर्ग कि.मी. भूमि वह पाक के अधिकृत कश्मीर से भी सैन्य सहायता के बदले प्राप्त कर चुका था। आज भी सिक्किम एवं अरुणाचल प्रदेश पर उसकी चुनौती भरी धमकी निरन्तर मिलती रहती है एवं उसका दावा है कि इन प्रदेशों की ९०,००० वर्ग कि.मी. भूमि पर भारत ने कब्जा कर रखा है जिसे उसे मुक्त कराना है। इसी तर्क के आधार पर हमारे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह की अरुणाचल प्रदेश की यात्रा पर भी उसने अपनी आपत्ति दर्ज करायी थी।

चीन के इन विस्तारवादी इरादों एवं उन पर अमल करने की उसकी सक्रिय गतिविधियों को हमें राज्य के स्तर पर एवं जनता के स्तर पर भी गहराई से समझने की आवश्यकता है। भारत की सीमा से सटे प्रदेशों में तो चीन सड़कों एवं रेलों का निरन्तर जाल बिछा ही रहा है, पूर्वोत्तर में उसने परमाणु मारवाली आधुनिक मिसाइलें भी तैनात कर रखी है। वह ब्रह्मपुत्र एवं अन्य नदियों के पानी को भी बड़े-बड़े बाँध बनाकर अपने ही क्षेत्र में रोक लेने की योजनाओं पर आगे बढ़ रहा है। कूटनीति के स्तर पर भारत के सभी पड़ोसी देशों से भी अपने सैनिक संबंध सुदृढ़ कर रहा है यथा श्रीलंका एवं म्यांमार प्रभृति। पाकिस्तान तो पहले दिन से ही हमारा घोषित शत्रु है। आज नेपाल में भी उसके हस्तक प्रभावी स्थिति में है। इस पर भी हमारी सरकार हतप्रभ होकर केवल वार्ताओं के दौर चला रही है और जवाबी ठोस रणनीति बनाने में सर्वथा विफल है।

प्रभावी रणनीति के लिए हमें अपने पड़ोसियों को विश्वास में लाना ही पड़ेगा। यह कार्य हम सांस्कृतिक आधार पर कर सकते हैं। श्रीलंका, म्यांमार एवं जापान प्रभृति अनेक पूर्वी देश सांस्कृतिक आधार पर हमारे मित्र बन सकते हैं। डॉ. लोहिया के अन्तर्राष्ट्रीय रामायण मेले के आयोजन के पीछे यही मुख्य भाव था। ये सारे बौद्ध देश भारत के प्रति सम्मान रखते हैं एवं प्रयत्न करने पर हमारे भरोसे लायक मित्र साबित हो सकते हैं, पर हम तो 'सेकुलरी शराब' के नशे में मस्त हैं, फिर यह कैसे हो ?

हमारे देश के भीतर भी गलत एवं ढुलमुल नीतियों के कारण लगभग १५० जिलों में माओवादी जाल बिछा चुके हैं, जिनके मन में कहीं न कहीं चीन के प्रति भावात्मक लगाव है। बंगाल में तो एक समय 'चीन का चेयरमैन, हमारा चेयरमैन' एवं 'आक्रामक चीन नहीं, भारत है' के नारे सरेआम लगे थे। अतः इसका विचार भी गहराई से करना पड़ेगा। स्थितियाँ कठिन होते हुए भी अभी काबू से बाहर नहीं हैं। आवश्यकता है सरकार के दृढ़ संकल्प की। ●

शान्ति चाहिये ?

पिछले दो युद्धों के पहले, भी तो लोग यही कहते थे,
सूनी गोदें, सूनी माँगें, सोच-सोच कम्पित होते थे।
किन्तु एक के बाद दूसरा, युद्ध हुआ टाला न जा सका,
हीरोशिमा, नागासाकी का विनाश रोका न जा सका।
उस विनाश से आज, किसे नहीं त्राण चाहिये,
सभी कहेंगे, युद्ध बुरा है, शान्ति चाहिये।।१।।

आर्यावर्त के घर-घर में तुम, ॐ शान्ति का गान सुनोगे,
किन्तु मान का प्रश्न जहाँ है, रामायण कैसे भूलोगे ?
शान्ति चाहिये हमें किन्तु वह, हर कीमत पर नहीं चाहिये,
शान्ति चाहिये स्वाभिमान की, मरघटवाली नहीं चाहिये।
मान चाहिये पहले हमको, पीछे हमको शान्ति चाहिये,
अपमानित हो आर्य-रक्त नहीं कह सकता है शांति चाहिये।।२।।

किन्तु आर्य की परिपाटी को भूल गये तुम प्यारे नेता,
याद कृष्ण को जो रखते तो पाकिस्तान कभी नहीं होता।
पाकिस्तान रचा करके तो, देख लिया सम्मान शान्ति का,
मा-बहनों के लुटने पर भी, मिटा नहीं यह रोग भ्रांतिका!
फिर भी नाग किये फन ऊँचा, उसे दूध सा देश चाहिये,
दुःख है तुम अब भी कहते हो, युद्ध बुरा है, शांति चाहिये।।३।।

आज चीन आगे बढ़ आया, मातृभूमि का ताज उड़ाने,
तुम अब भी जनता के आगे, लग जाते हो लोरी गाने।
अरे ताज निर्जीव चीज है, उसके खातिर क्यों घबराना,
हम भी बिना ताज के राजा, फिर भी है दुनिया ने माना।
जन्म-दिवस पर उसी मान में, नौ वीरों की लाश चाहिये,
मातृभूमि का खंड-खंड हो, फिर भी बोलो, शांति चाहिये।।४।।

बिना हटे ही दिया निमन्त्रण, आओ चाऊ बैठ विचारें,
पिछले पासे देख तुम्हारे, जनता कैसे धीरज धारे।
स्वयं निमन्त्रण बुरा न इतना, किन्तु बुरी है सौदेबाजी,
पंचशील और शान्ति शान्ति ने, सीमायें कर दी हैं आधी।
देश लगा है जब बाजी पर, पंचशील या देश चाहिये ?
किन्तु तुम्हारा राग न बदला, बुद्धं शरणं...शांति चाहिये ।।५।।

किन्तु सोच लो एक पक्ष से शान्ति कभी नहीं हो सकती है,
इंधन देने से अग्नि की भूख कभी नहीं बुझ सकती है।
वह तो भभकेंगी जब तक, उसका अच्छा प्रतिकार न होगा,
हो अयूब, चाऊ या कोई, पहले देश शील फिर होगा।
आज देश के नवयौवन को, केवल शुभ निर्देश चाहिये,
एक बार कह कर तो देखो, मान पूर्व, फिर शान्ति चाहिये ।।६।। ●

कौस्तुभ जयंती पर विशेष

राष्ट्र के पुनरुत्थान का राजमार्ग : राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

७५ वर्षों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आज एक विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर चुका है, जिसकी शाखाएँ, प्रशाखाएँ समाज एवं राष्ट्रजीवन के प्रत्येक कर्मक्षेत्र में न केवल विद्यमान ही हैं, बल्कि इतनी प्रभावशाली हैं कि वटवृक्ष की शाखाओं की तरह कई बार सामान्य व्यक्ति को मूल एवं शाखा की पहचान के बारे में भ्रम हो जाता है।

इसी का परिणाम है कि आज की राजनीति से अतिशय प्रभावित वातावरण में लोग संघ एवं उसके स्वयंसेवकों द्वारा प्रारंभ किए गये अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक संगठनों को कांग्रेस सेवादल की तर्ज पर भारतीय जनता पार्टी के अधीन कार्यरत संगठन ही समझते हैं जबकि वास्तविकता इसके ठीक विपरीत है एवं भाजपा भी उन नानाविद् संगठनों की तरह ही एक संगठन है जिन्हें संघ से प्रेरणा प्राप्त स्वयंसेवकों ने प्रारंभ किया। इस प्रकार 'संघ परिवार' कहे जाने वाले संगठनों की संरचना एवं रीति-नीति कांग्रेस या साम्यवादी प्रभृति राजनैतिक दलों के सहयोगी संगठनों की रचना एवं नियंत्रण से सर्वथा भिन्न है।

विद्यार्थी क्षेत्र, मजदूर क्षेत्र, समाज सेवा एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में प्रमुखत: कांग्रेस एवं साम्यवादी पार्टियों ने अपने-अपने सहयोगी संगठन प्रारंभ किए जो उन्हीं के इशारे पर चलते हैं एवं नियंत्रित होते हैं पर भाजपा के साथ संघ परिवार के अन्य संगठनों का ऐसा रिश्ता नहीं है। भारतीय मजदूर संघ, विद्यार्थी परिषद, विश्व हिन्दू परिषद, वनवासी कल्याण आश्रम, वन बंधु परिषद जैसे पचासों संगठन अपने-अपने क्षेत्र में एक नंबर पर हैं, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों द्वारा 'परं वैभवं नेतु मेतत् स्वराष्ट्रम्' के महत उद्देश्य से प्रारंभ किये गये, स्वनिर्भर एवं स्वचालित हैं तथा सर्वोपरि बात यह है कि ये राजनीति निरपेक्ष हैं। अगर ये संगठन या इनके कार्यकर्त्ता निर्वाचनों में भाजपा का सहयोग करते दिखाई देते हैं तो भाजपा के निर्देश या निमंत्रण के कारण नहीं बल्कि राष्ट्र के पुनरुत्थान में लक्ष्यों की समानता के कारण एवं अन्य राजनैतिक दलों की संघ के प्रति हटवादी शत्रुता के कारण। इसको हमारे अनेक

पत्रकार बंधु सही आंकलन के अभाव में या जानबूझ कर भ्रम निर्माण करने के लिए अपने-अपने ढंग से तोड़-मरोड़कर लिखते रहते हैं।

बड़े पत्र या पत्रकार भी इस बात से इस कदर प्रभावित हैं कि वे इस संबंध में कुछ भी सुनने या समझने को तैयार नहीं। मुझे स्मरण है कि बंगाल की विद्यार्थी परिषद की शाखा को बार-बार भाजपा का विद्यार्थी संगठन लिखने पर परिषद के द्वारा 'स्टेट्समैन' को लिखित ज्ञापन देने पर भी उस पत्र के रवैये में इस संबंध में कोई परिवर्तन नहीं आया।

संघ कार्य को ठीक तरह समझने के लिए उसकी स्थापना के समय की परिस्थितियों एवं उसके संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार के व्यक्तित्व को गहराई से समझना होगा। यदि इस कार्य को ठीक से समझ लिया तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि संघ न तो किसी तात्कालिक प्रतिक्रिया से प्रभावित हुआ, न सांप्रदायिकता का आधार लेकर खड़ा हुआ।

संघ की नींव में है राष्ट्र एवं समाज के पुनरुत्थान के लिए जात-पात, प्रांतीयता, सांप्रदायिक अहंकार एवं अन्य क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर राष्ट्र के परंवैभव के लिए नित्यसिद्ध शक्ति खड़ी करने का सात्विक विचार। इसी के कारण नागपुर से उठा यह विचार न केवल पूरे भारत में फैला, बल्कि आज तो विश्व के लगभग १०७ देशों में प्रवासी भारतीय विभिन्न नाम रूपों में एकत्र होकर धनार्जन की भूख से आगे बढ़कर भारतीय संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में प्रयासरत है।

संघ का काम 'शब्द' के द्वारा नहीं, जीवित संपर्क से फैला। इसके कार्यकर्ताओं ने अपनी त्याग एवं तपस्या के बल पर दसों दिशाओं में जाकर स्वयं को बीज बनाकर बो दिया। ऐसे हजारों-हजारों कार्यकर्ताओं के नाम आज कौन जानता है ? ध्येयनिष्ठा एवं आदर्शवाद को उपदेश या खोखले शब्दों के द्वारा दूसरों के जीवन में नहीं उतारा जा सकता। किसी ध्येयनिष्ठ एवं आदर्शवादी जीवन का संपर्क मिलने पर ही यह दूसरे में संक्रमित होता है- 'एक दीप से जले दूसरा'- यही संघ का सूत्र वाक्य रहा है।

संघ का कार्य-असंगठित हिन्दू समाज को संगठित करके नित्यसिद्ध शक्ति के रूप में खड़ा करना तथा लक्ष्य- इस प्राचीन राष्ट्र को पुनः परमवैभव पर पहुंचाना।

पौराणिक आख्यानों की तरह जहाँ कहीं शक्ति-संचय या तपस्या का बल बढ़ेगा, इंद्र या राजा की चिंता बढ़ेगी। या तो वह उसके अनुकूल चले, नहीं तो उसे नष्ट करने के प्रयत्न होंगे। स्वाधीन भारत में भी संघ की भूमिका के विस्तार के साथ-साथ इसे कुचलने के तीन-तीन बार बड़े प्रयत्न हुए परन्तु हर बार संघ अधिक प्रभावशाली होकर उभरा। १९७५ ई. के आपातकाल के समय की तो याद अधिकांश लोगों को ताजा होगी। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के समान राजनीति भी संघ के लिए राष्ट्रसेवा का साधन है, साध्य नहीं।

हाँ, अन्य सांस्कृतिक संगठनों की तरह यह क्षेत्र इसके कार्यकर्ताओं के लिए अस्पर्शस्य भी नहीं है किन्तु जो लोग राजनीति को ही जीवन का केंद्र बिंदु समझ बैठे हैं, उनके लिए संघ की इस स्थिति को सहज ही समझ पाना कठिन है क्योंकि इसके केंद्र में राजनीति नहीं, संस्कृति है। भारत का चिंतन राजनीति या शासन केन्द्रित नहीं, दर्शन एवं संस्कृति केन्द्रित है। हिन्दू विचार संकीर्ण या साम्प्रदायिक नहीं, उदार एवं सर्वग्राही है। हिन्दू या हिन्दू संगठन को साम्प्रदायिक कहना सत्य से आँखें मूँद लेना है। ऐसा होता तो स्वामी विवेकानन्द क्यों कहते- **'गर्व से कहो हम हिन्दू हैं।'**

अत्युच्च तत्वज्ञान एवं सर्वाधिक सहिष्णु जीवन पद्धति तथा प्रत्येक पद्धति की पूजा एक ही प्रभु के पास जाती है ऐसा विचार होने के बावजूद एवं लाखों-लाखों वर्षों का ऐसा ही इतिहास साक्षी होने के उपरांत हिन्दू क्यों साम्प्रदायिक कह कर दुत्कारा जाता है ? इस प्रश्न का एक ही उत्तर है विभिन्न रूढ़ियों से ग्रस्त असंगठित हिन्दू समाज।

इसी को पहचान कर स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि निष्क्रिय होकर गीता पढ़ने से फुटबाल खेलना अच्छा है। इसी सूत्र को पहचानकर संघ संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने सुधारक एवं संगठन दोनों की भूमिका पर उतर कर संघ की दैनिक शाखा की पद्धति प्रारंभ की। ७५ वर्ष की यह साधना कितनी सार्थक रही है यह आज विभिन्न क्षेत्रों में कार्य विस्तार से प्रकट है। संघ परिवार इस समय केवल भारत में ही नहीं बल्कि समूचे विश्व में सबसे बड़ा कर्म आन्दोलन है।

संघ संस्थापक डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार जन्मजात क्रांतिकारी थे, तत्कालीन राजनीति पर भी उनकी गहरी पकड़ थी, वे एक दैनिक पत्र के सम्पादक भी रहे थे एवं देश के प्रबुद्ध विचारकों, चिन्तकों एवं चोटी के राजनेताओं से भी उनके आत्मीय सम्पर्क थे। इन सबके बावजूद उन्हें लगा कि प्रचलित पद्धतियों से व्यक्ति निर्माण का काम नहीं किया जा सकता तो गहरे विचार के उपरान्त उन्हें दैनिक शाखा के रूप में एकत्रीकरण एवं संस्कार देने की नई पद्धति प्रारंभ की। मालवीय जी, सावरकर बंधु, महात्मा गांधी सभी ने इस कार्य को देखा एवं सराहा पर ओछी राजनीति इसमें सदैव बाधक बनती रही।

किसी भी देश के आगे बढ़ने में राज एवं समाज दोनों का ही ठीक होना आवश्यक है। देश के नागरिक यदि समाज एवं राष्ट्र के लिए समर्पण के संस्कारों से युक्त नहीं बने तो राष्ट्र का उत्थान कभी संभव नहीं है। संघ लोक संग्रह एवं लोक संस्कार के द्वारा यह काम बखूबी कर रहा है। आवश्यकता है इस काम के मर्म को भलीभाँति समझ कर अपने-अपने स्तर पर इसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करने की। राष्ट्र के पुनरुत्थान का यही आज की परिस्थिति में एकमेव राजमार्ग है। ●

भारतीय संस्कृति के प्राण: मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम

चैत्र शुक्ल नवमी के दिन दोपहर के १२ बजे जब ५ ग्रह उच्चस्थिति में थे, त्रेतायुग में इस धराधाम पर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम का अवतरण हुआ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को श्रीराम के चरित्र ने इतना अधिक प्रभावित किया है कि आज लाखों-लाख वर्ष बीत जाने के बाद भी श्रीराम हमारी सम्पूर्ण संस्कृति एवं परम्परा के प्राण के रूप में जन जन के हृदय में आदर्शों के प्रतीक के रूप में अधिष्ठित हैं। कवि शिव ओम अम्बर के शब्दों में ह्न

बिना राम के आदर्शों का चरमोत्कर्ष कहाँ है ?
बिना राम के इस भारत में भारतवर्ष कहाँ है ?

सचमुच श्रीराम लोकोत्तर पुत्र, लोकोत्तर बन्धु, लोकोत्तर शिष्य, लोकोत्तर पति और लोकोत्तर राजा तो थे ही, शत्रु के रूप में भी वे लोकोत्तर थे। अर्थात् उनका सब कुछ लोकोत्तर था। इस कारण आदि कवि बाल्मीकि से प्रारम्भ हुआ उनका चरित्र गुण-गान आज भी लोगों के लिए उतना ही प्रेरक बना हुआ है। इसमें न देश की सीमा है, न समय की और न भाषा की। कवियों के लिये यह सतत प्रेरक है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है- **'राम तुम्हारा चरित्र स्वयं ही काव्य है। कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।।'**

आइए, राम के अलौकिक गुणों पर थोड़ा दृष्टिपात कर लें ह्न

लोकोत्तर पुत्र : पहले दिन जिसके राजपाट की घोषणा हो चुकी थी, उसे दूसरे दिन १४ वर्ष के वनवास की यात्रा में प्रस्थान करना पड़ा पर पिता के दिए हुए वचन की रक्षा हेतु राम ने तनिक भी उहापोह नहीं की। वास्तव में दशरथ मन से तो यह चाहते थे कि राम मेरी आज्ञा न माने एवं वन न जाए। उन्होंने रोते-रोते कहा 'मेरा यह दुर्भाग्य है कि पुत्र मेरी आज्ञा शिरोधार्य कर वन जा रहा है।' आज तो हम प्राय: यही सुनते हैं कि क्या करें लड़का कहना ही नहीं मानता। जिस कैकेयी के कारण राम को सिंहासन छोड़कर वन जाना पड़ा, उसके बारे में चित्रकुट में मिलन के समय भरत ने अनर्गल बोलना प्रारंभ किया तो राम ने न केवल उसे ऐसा कहने से रोका बल्कि अपनी शपथ दिलाकर उससे यह वचन लिया कि वह भविष्य में कैकेयी के साथ ऐसा आचरण नहीं करेगा। वन में राम आगे होकर कैकेयी से मिले एवं 'काल-करम' को दोष देकर उन्हें सांत्वना दी-

प्रथम राम भेंटी कैकेयी, सरल सुभाय भगति मति भेई।
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी, काल करम बिधि सिर धरि खोरी।।

(अयोध्या काण्ड २४३/७-८)

माता-पिता और पुत्र के मध्य सम्बन्धों के इस आदर्श के कारण ही 'राम' पुत्र के रूप मे हमारी संस्कृति के आदर्श बने हैं।

लोकोत्तर बन्धु : बाल्मीकि रामायण में कैकेयी के बरदान मांगने से दु:खी पिता को देखकर श्रीराम कैकेयी से कहते हैं कि भरत के लिए राज्य मांगने हेतु इतना सब करने की क्या आवश्यकता थी ? मेरे अधिकार की प्रत्येक वस्तु यहाँ तक कि अपने प्राण भी मैं भरत के लिए सहर्ष देने को प्रस्तुत हूँ। मेरे और भरत में कोई भेद नहीं है। भरत ने भी ऐसा ही आचरण किया और चित्रकूट जाकर दृढ़तापूर्वक राम को लौटाना चाहा और जब राम नहीं माने तो उनकी खड़ाऊँ को राजगद्दी पर प्रतिष्ठित किया। राज न लेने की ऐसी स्पर्धा विश्व इतिहास में कहीं भी नहीं मिलती। रावण वध के पश्चात अयोध्या लौटने की जल्दी के लिए राम यही कहते हैं कि विलम्ब होने पर कहीं भरत अन्य कुछ न कर बैठे, प्राण हानि न कर लें। तुलसी रामायण में राम को यह कहते हुए दिखाया गया है कि भाइयों में केवल बड़े को ही राज्य देने की परिपाटी उचित नहीं है। लक्ष्मण को मूर्च्छा आने पर राम ने जो कुछ कहा, वह सम्बन्धों की पराकाष्ठा है।

लोकोत्तर शिष्य : विश्वामित्र जैसे राष्ट्र हितैषी गुरु की साधना भी राम जैसे शिष्य मिलने से ही सफल हुई। उस समय की रीति के अनुसार किसी भी क्षत्रिय के लिए किसी स्त्री पर हाथ उठाना उचित नही था पर विश्वामित्र ने जब ताड़का को मारने का आदेश दिया तो राम ने एक क्षण के लिए भी संकोच नहीं किया। राम ने दण्डकारण्य में जाकर विभिन्न ऋषि-मुनियों से अस्त्र-शस्त्र ग्रहण किए एवं उन्हें अभय दिया। दुराचारी राक्षसों से उन्हें अपने सर्वस्व की बाजी लगाकर रक्षित किया।

लोकोत्तर पति : उस काल खण्ड में बहु पत्नी प्रथा प्रचलित थी एवं राजाओं में तो यह आम बात थी। श्रीराम ने एक पत्नी व्रत धारण किया एवं सीता से विछोह होने पर भी विवाह नहीं किया। राम का सीता पर अनहद प्रेम था, जिसका बाल्मीकि रामायण में विस्तार से वर्णन है। सीता वनवास की बात अनेक विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं। इस प्रसंग में भी जब यज्ञ का अवसर आया तो राम ने दूसरा विवाह करने से मना कर दिया एवं सीता की सोने की मूर्ति बनवाकर ही यज्ञविधि पूर्ण की। यह बलिदान एवं प्रेम की उच्चतम भावना का प्रतीक है। इस कारण आज भी भारतीय महिलायें गौरी पूजन कर राम जैसा पति पाने का आशीष मांगती है।

लोकोत्तर राजा : प्रजा रंजन के लिये राम ने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा इस हेतु ही संभवतः सीता वनवास का कथानक गढ़ा गया होगा एवं गढ़ा गया होगा राम के साथ ही सम्पूर्ण प्रजा का सरजू में आत्मसात कर लेने का कथानक। इसी कारण राजकरण के क्षेत्र में 'रामराज्य' के आदर्श का कोई विकल्प नही है। राम का राज्य यानी कीर्ति का स्वर्ण कलश। सम्पूर्ण अयोध्या राम के लिए एक विशाल कुटुंब ही था, राज्य नहीं। भारत ही नहीं, विश्व में कहीं भी आदर्श राज्य की बात होगी तो 'रामराज्य' का उदाहरण सामने आयेगा।

लोकोत्तर शत्रु : रावण जैसे शत्रु की मृत्यु पर राम ने जो व्यवहार किया वह भारतीय संस्कृति का उज्जवल पक्ष है। विभीषण रावण के शव का आदर नहीं करना चाहते थे पर राम ने ही उन्हें प्रेरित कर उसका उचित संस्कार करवाया एवं उसे मोक्ष प्रदान किया। बाली की मृत्यु के उपरान्त मित्रता के नाते राज्य भार तो सुग्रीव को दिया पर युवराज बाली पुत्र अंगद को ही बनाया। जिस परशुराम ने सम्पूर्ण क्षत्रियों के नाश की प्रतिज्ञा ले रखी थी एवं इक्कीस बार ऐसा कार्य किया भी, उन्हें भी सामान्य दण्ड देकर छोड़ दिया। अन्य राक्षसों को भी सुगति प्रदान की। कहाँ मिलेगा ऐसा लोकोत्तर शत्रु!

श्रीराम हमारे मर्यादापुरुषोत्तम भी हैं। कुछ लोग सोचते हैं कि उन्होंने चली आ रही मर्यादाओं का पालन किया जैसे पिता की आज्ञा का पालन प्रभृति, इसी कारण वे मर्यादाओं के पालक या मर्यादा-पुरुषोत्तम कहे गये। वस्तुतः इतना मात्र नहीं है।

श्रीराम ने चली आ रही उचित मर्यादाओं का पालन तो किया ही पर अनुचित रीतियों को तोड़कर नई मर्यादाएँ स्थापित की, यह भी उनके लोकजीवन का प्रबल पक्ष है। निषादराज गुह को अंक में लेकर भेंट करना, शबरी के जूठे बेर खाना, वानर-भालुओं से मित्रता करना, वन-वन जाकर सभी वनवासियों को संगठित और संस्कारित कर आपसी भेद को मिटाने की नवीन मर्यादाएँ श्रीराम ने स्थापित की, जिससे सारा समाज एवं राष्ट्र पुनः सबल हुआ।

जीवन के नैतिक मूल्यों को व्यवहार में उतारने एवं पाशविक वृत्तियों का दलन करने हेतु ही श्रीराम अवतरित हुए थे। राम के सम्पूर्ण जीवन का हर पक्ष अलौकिक एवं दिव्य है। इसी दिव्यता के कारण जिसने भी इस चरित्र में गोता लगाया, अभिभूत हो गया।

भारत के बाहर अनेक देशों में बहुत पहले से ही दिव्य रामकथा का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ। इन देशों में हम तिब्बत, नेपाल, चीन, मंगोलिया, तुर्किस्तान, साइबेरिया, जापान, इंडोनेशिया, थाइलैण्ड, मलेशिया, ब्रह्मदेश, कम्बोडिया, श्रीलंका एवं फिलिपीन्स आदि का नाम ले सकते हैं। इसमें इंडोनेशिया जैसे देश तो मुस्लिम देश है। हम रामकथा के आधार पर इन देशों से मैत्री सम्बन्ध दृढ़ करें तो फिजा बदल सकती है पर मुश्किल यह है कि हमारे

राजनेताओं पर ही नकली सेक्यूलेरिज्म सवार है जिसके कारण 'राम' एवं 'रामकथा' में उन्हें साम्प्रदायिक गंध आती है या संकोच का अनुभव होता है। हमारे प्राचीन धर्म प्रचारक एवं व्यावसायियों के माध्यम से यह कथा उन देशों में पहुँची और उन देशों ने इसे ऐसा अपना लिया कि आज भी उनके लोकजीवन पर उसकी छाप देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त कुछ देशों में अंग्रेजी शासन काल में जोर जबरदस्ती से भारतीय लोग मजदूरों के रूप में ले जाकर बसाये गये जैसे मारिशस, फिजी, गायना, ट्रिनिडाड, सुरीनाम, दक्षिण अफ्रीका आदि, वहाँ रामकथा इन भारतीयों के हृदय में बस कर साथ गई, उनके कष्टों में उनके धैर्य का आधार बनी एवं इनकी शक्ति बढ़ने के साथ-साथ उन देशों में प्रचारित-प्रसारित एवं प्रतिष्ठित हुई।

कुछ अन्य देशों के साहित्यकारों ने हाल ही के वर्षों में रामकथा के शास्वत आकर्षण से प्रभावित होकर रामकथा का अपनी-अपनी भाषाओं में अनुवाद कर ख्याति प्राप्त की है। ऐसे देशों में रूस एवं चीन जैसे साम्यवादी देश भी हैं, कतिपय यूरोप के देश भी हैं जैसे फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि। रूस में रामकथा के प्रसार ने तो भारत के वामपंथियों को भी विरोधी स्वर थोड़ा धीमा करने को बाध्य कर दिया जो रोज-रोज रामकथा में नये-नये दोष ढूंढ निकालने में व्यस्त थे। फिर भी 'सहमत' जैसे संगठन असहमति का वातावरण बनाने में ही पूरी ताकत लगा रहे हैं, शायद कभी उनकी भी सही सोच लौटे।

पश्चिमी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से आज जिस तेजी से हमारा नैतिक पतन हो रहा है, उसमें यह आवश्यक है कि हम श्रीराम के दिव्य चरित्र में अवगाहन करें एवं 'सज्जनों के संरक्षण, दुर्जनों के बहिष्कार एवं विताड़न' के रामकार्य में अपने को लगाकर अपने राष्ट्र को पुनः गौरव के शीर्ष स्थान पर ले जाने में समर्थ हों। ●

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण

भगवान श्रीकृष्ण का अवतार मथुरा में अपने मामा कंस के कारागृह में द्वापर युग के अन्तिम चरण में भाद्रपद कृष्ण अष्टमी की आधी रात में हुआ। पिता वसुदेव और माता देवकी के आठ पुत्रों में ये सबसे छोटे थे। देवकी वैसे तो कंस की चचेरी बहन थी पर कंस उससे बहुत प्यार करता था अत: जब उसके विवाह के उपरान्त विदाई का समय आया तो कंस प्यार एवं उत्साह के वशीभूत होकर स्वयं देवकी-वसुदेव का रथ चलाने लगा। एकाएक कंस को आकाशवाणी सुनाई दी- "तू जिसको इतने उत्साह से पहुँचाने जा रहा है, उसी के आठवें पुत्र के हाथों तेरी मृत्यु होगी।" आकाशवाणी से कंस चौंक उठा। मृत्यु के भय से उसने तलवार निकालकर देवकी को ही समाप्त कर देना चाहा। तब वसुदेव ने उससे विनती की कि वह अपनी बहन का वध न करे एवं वचन दिया कि जितने भी बालक उत्पन्न होंगे वह उन्हें कंस को सौंप देगा। इस पर कंस राजी हो गया एवं प्रथम बालक उत्पन्न होते ही वसुदेव ने उसे कंस को सौंप दिया। एक बार तो कंस ने उस बालक को लौटा दिया क्योंकि खतरा तो आठवें बालक से था पर फिर उसका मन बदल गया और उसने उस बालक को पुन: मंगाकर उसे मार दिया एवं देवकी-वसुदेव को भी बेड़ी डालकर कारागृह में बन्द कर दिया ताकि कोई भूल उसकी मृत्यु का कारण न बन पाये। बाद में कंस ने अपने पिता उग्रसेन को भी राजगद्दी से उतार कर कारागृह में डाल दिया एवं स्वयं मथुरा का राजा बन बैठा।

बाद में एक-एक कर देवकी के छ: शिशुओं को कंस ने शिला पर पटककर मार डाला पर होनी होकर ही रहती है। सातवें गर्भ को कर्षित कर योगमाया ने वसुदेव की प्रथम पत्नी रोहिणी के गर्भ में पहुँचा दिया। इधर कंस को लगा कि गर्भपात हो गया है। इसी गर्भ से रोहिणी के बलराम जी हुए। अष्टम गर्भ में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण पधारे। पूरा कक्ष तेज से जगमगा उठा। वसुदेव को लगा कि किसी प्रकार इस बालक को उन्हें बचाना ही चाहिये। योगमाया की लीला से वसुदेव को प्रेरणा हुई कि वे इसे गोकुल ले जाएँ। इधर पहरेदारों को गहरी नींद आ गयी एवं कारागृह के फाटक खुल गए। वसुदेव एवं देवकी की बेड़ियाँ खुल गईं। वसुदेव ने प्रभु का संकेत समझ लिया। वे बच्चे को लेकर बाहर निकल पड़े। उस समय भारी वर्षा हो रही थी एवं यमुना भी उफान पर थी पर ज्योंही वसुदेव यमुना में उतरे, उनके लिये मार्ग बनता गया एवं वे सकुशल गोकुल पहुँच गये। गोकुल में उसी समय नन्द की पत्नी

यशोदा ने एक कन्या को जन्म दिया था। वसुदेव ने अपने बालक को वहाँ सुला दिया एवं कन्या को लेकर मथुरा लौट आये। गोकुल में भी योगमाया के प्रभाव से किसी को इसका पता नहीं चला। ज्यों ही वसुदेव मथुरा के कारागृह में लौटे, सब कुछ पुरानी तरह हो गया। बालक के रोने की आवाज सुनकर पहरेदार जागे एवं कंस को खबर दी। कंस ने आकर देखा तो बालिका को देखकर वह असमंजस में पड़ गया। देवकी ने बहुत अनुनय की कि वह इस बालिका को छोड़ दे पर कंस राजी नहीं हुआ। उसने बालिका के पांव पकड़कर शिला पर पटकने हेतु ज्योंही उसे ऊपर उठाया, बालिका हाथ से छूटकर आकाश में यह कहते हुए चली गई कि तुमको मारने वाला तो गोकुल में पल रहा है। अब कंस ने गोकुल के सभी नवजात शिशुओं की हत्या का मन बना लिया। एक-एक कर पूतना, तृणावर्त एवं शकटासुर जैसे मायावी कृष्ण की हत्या को भेजे गये पर सब स्वयं मारे गये। इससे कंस का चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इधर यशोदा, नन्दबाबा एवं गोकुलवासी भी इतने उत्पातों से भयभीत हो गये और वे सब गोकुल छोड़कर वृन्दावन आ गए, जिसे वे अपेक्षाकृत सुरक्षित मानते थे। इन सबके आने से वृन्दावन विकसित हो गया। कृष्ण ग्वालों के स्वभाविक नेता बन गये। बलराम भी साथ ही थे।

वृन्दावन में भी दुष्टों का उत्पात जारी रहा। कृष्ण ने वत्सासुर, बकासुर, धेनुकासुर एवं अघासुर इत्यादि को उनके अपराधों के लिए दण्ड देते हुए मार गिराया। कालियनाग का दमन कर उसे यमुनातट छोड़ने के लिये विवश किया एवं इन्द्र तथा ब्रह्माजी को भी अपनी भगवत्ता एवं शक्ति का दिग्दर्शन कराया जिन्होंने अपने अहंकार के वशीभूत होकर कृष्ण को चुनौती दी थी। इन्द्र ने जब अपनी पूजा बन्द होने पर भंयकर वर्षा कर वृन्दावनवासियों को विकल कर दिया तो कृष्ण ने ग्वालों के साथ मिलकर गोवर्धन उठाया एवं इन्द्र का मान मर्दन किया। ब्रह्माजी ने भी जब कृष्ण की भगवत्ता की परीक्षा लेने के विचार से ग्वालों के बछड़े ही चुरा लिए तो कृष्ण ने वैसे ही नए बछड़े उत्पन्न कर ब्रह्माजी को भी सीख दी। इधर कृष्ण की उम्र एवं कीर्ति दोनों ही बढ़ रही थी, उधर प्रभु की इच्छा से कालचक्र को तेजी से घुमाने हेतु नारदजी ने कंस के पास जाकर कहा कि ये दोनों बालक बलराम और कृष्ण ही वसुदेव के सातवें और आठवें पुत्र हैं तथा उसके काल हैं।

नारद जी की सलाह के बाद कंस ने कृष्ण-बलराम को अपने रास्ते से हटाने हेतु फिर से बृकासुर एवं केशी इत्यादि राक्षसों को भेजा पर उनकी भी अन्यों जैसी ही दशा हुई। तब कंस ने दोनों को मथुरा बुलाकर समाप्त करने की योजना बनाई एवं धनुर्यज्ञ उत्सव के बहाने दोनों को मथुरा आने का निमन्त्रण देने अपने चचेरे भाई अक्रूर को भेजा। अक्रूर ने सारी बातें कृष्ण को बतायी पर कृष्ण आनन्दित ही हुए एवं कुछ साथियों के साथ दोनों भाई मथुरा के

लिये चल दिये। मथुरा में प्रवेश करते ही कुबलियापीड नामक मदमत्त हाथी जो कृष्ण को मारने हेतु ही वहाँ तैनात था, कृष्ण पर झपटा। कृष्ण ने उसकी सूँड काटकर उसे यमलोक पहुँचा दिया। दरबार में पहुँचते ही उन्हें कुस्ती के लिये मुष्टिक एवं चाणूर जैसे दिग्गज पहलवानों ने ललकारा। कृष्ण ने चाणूर एवं बलराम ने मुष्टिक को मार गिराया और फिर झपटकर कंस को भी सिंहासन से खींचकर खुले मैदान में लाकर मार डाला। इतने बड़े अत्याचारी शासक का इस प्रकार सहज ही अन्त हो गया। कृष्ण ने स्वयं सिंहासन पर बैठने के बजाय कंस के पिता अपने नाना उग्रसेन को ही पुनः सिंहासनारूढ़ कर दिया एवं स्वयं विद्याध्ययन के लिये सांदीपनी ऋषि के आश्रम में जाकर अल्पकाल में ही सब विद्याओं में पारंगत हो गये। यहीं उनकी सुदामा से मैत्री हुई थी, जिसको बाद में आदर देकर आर्थिक कष्ट से उबारने की कथा प्रचलित है। सांदीपनी के एकमात्र पुत्र का पंचजन नामक राक्षस ने अपहरण कर लिया था, कृष्ण ने उसे भी छुड़ाकर गुरु की इच्छानुसार 'गुरुदक्षिणा' भेंट दी। पंचजन को पराजित करने पर ही कृष्ण को 'पाञ्चजन्य' नामक शंख मिला था।

मगध का शक्तिशाली राजा जरासंध कंस का श्वसुर था। कंस वध के कारण वह कृष्ण से बहुत नाराज था। अतः कृष्ण को मारने हेतु उसने मथुरा पर सत्रह बार आक्रमण किया। कृष्ण ने जब यह देखा कि बार-बार के युद्ध में अनेक यादव वीर मारे जा चुके हैं तो उन्होंने मथुरा छोड़ने का निर्णय किया एवं सब यादवों को गुप्तमार्ग से सुदुर पश्चिम में स्थित द्वारिका ले गये जिसे उन्होंने पहले ही अपनी योजना से निर्मित कराया था। बाद में पांडवों के राजसूय यज्ञ के पूर्व कृष्ण की योजना से भीम द्वारा गदायुद्ध में इसका वध हुआ।

कृष्ण का तो अवतार ही दुष्टों के विनाश एवं सज्जनों के परित्राण हेतु हुआ था। कौरवों के अन्याय के विरुद्ध पांडवों को न्याय दिलाने हेतु कृष्ण पांडवों के सहयोगी बने एवं महाभारत के प्रसिद्ध युद्ध में इनकी रणनीति एवं कूटनीति के कारण ही पांडवों को विजय मिली। इसी युद्ध में अर्जुन के मोहग्रस्त होने पर कृष्ण ने जो उपदेश दिया वह 'गीता' के नाम से प्रसिद्ध है।

गीता अध्यात्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसे पूरी भारतीय संस्कृति की आँख कह सकते हैं। गीता शान्ति भी है, क्रांति भी है। यह जीवन जीने की कुंजी है। इसमें कर्मयोग, भक्तियोग एवं ज्ञानयोग सभी कुछ है। यह केवल भारत की या हिन्दुओं की ही नहीं, सारे विश्व एवं पूरी मानवता की थाती है। विश्व की सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। इसमें प्रतिपादित 'निष्काम कर्म' का सिद्धान्त किसी भी व्यक्ति के जीवन को बदलने की रामबाण औषधि है। इसमें १८ अध्याय एवं ७०० श्लोक हैं। गीता को उपनिषदों का मीठा दूध कहा गया है। इसमें साधुओं का परित्राण एवं दुष्टों का विनाश साथ-साथ हैं। यह धर्म भी है, कर्म भी है। रचना भी है, ध्वंस भी है। यह सबके लिये है। भारत के सभी सन्तों, महात्माओं,

धर्मगुरुओं एवं चिन्तकों ने अपने अपने कथन के पक्ष में गीता का ही सहारा लिया है। सचमुच यह अतुलनीय है।

महाभारत के पूर्व प्राग्ज्योतिषपुर में राजा नरकासुर को अपने सुदर्शन चक्र से मारकर श्रीकृष्ण ने सोलह हजार राजकुमारियों को उसकी कैद से मुक्त कराकर उनसे विवाह कर उनके उद्धार का अनूठा उदाहरण रखा। दुष्ट शिशुपाल का भी ऐसे ही वध किया। महाभारत के युद्ध के बाद ज्येष्ठ पांडव धर्मराज युधिष्ठिर शासन पर विराजे।

इसके पश्चात् कृष्ण पुनः द्वारिका लौट आये। यहाँ भी जब यादव कुल के लोग उन्मत्त होकर अत्याचार करने लगे तो उन्हें आपस में ही लड़-लड़कर समाप्त हो जाने दिया एवं स्वयं ने भी अपनी लीला संवरण कर ली।

भगवान कृष्ण का सम्पूर्ण जीवन दुष्ट दलन की घटनाओं से परिपूर्ण है। भगवत्ता के सभी गुण-ऐश्वर्य, धर्म, यश, शोभा, ज्ञान एवं वैराग्य उनमें पूर्णता से विराजित थे। हमारे अवतारी पुरुषों में इतने अधिक घटनाक्रम का जीवन अन्य किसी का भी नहीं है। श्रीकृष्ण ने अपने व्यवहार एवं आचारण से धर्म एवं अधर्म की व्याख्या को नए ढंग से प्रस्तुत करते हुए धर्म के पक्ष को विजयी बनाया। पांडवों की विजय का सम्पूर्ण श्रेय श्रीकृष्ण को ही जाता है। श्रीकृष्ण ने ही अपनी युक्ति से पग-पग पर खड़ी पाण्डवों की हार को विजयश्री में बदला। विश्व इतिहास में ऐसा कोई दूसरा चरित्र खोज पाना कठिन है। ●

सकल गुण निधान : वीर हनुमान

भारत के सभी प्रदेशों में श्री हनुमानजी की उपासना अत्यन्त श्रद्धा से की जाती है। रामभक्तों में ये अग्रणी हैं। इसी कारण कहते हैं कि जहाँ-जहाँ भी रामकथा होती है, ये किसी न किसी रूप में अवश्य वहाँ उपस्थित रहते है। ये पवन देव के अंशावतार माने जाते हैं, इसी कारण इन्हें पवनपुत्र भी कहा जाता है। इनका जन्म सुमेरू के राजा केशरी एवं गौतम कन्या अञ्जना के परिवार में हुआ। अञ्जना के पुत्र के कारण इनका एक नाम आञ्जनेय भी पड़ा। इनका जन्म चैत्र शुक्ल १५ को माना जाता है। कोई-कोई इनका जन्म आश्विन कृष्ण १४ को भी मानते हैं।

रामावतार की लीला के प्रधान पात्र हनुमानजी ही हैं। राम-सुग्रीव मिलन, समुद्र लंघन, सीता की खोज, लंकापुरी की अधिष्ठात्री लंकिनी को परास्त करना, विभिषण से सार्थक मंत्रणा, रावण के सेनापतियों, मंत्री-पुत्रों एवं स्वयं उसके पुत्र अक्षयकुमार का अकेले ही वध कर भरी सभा में उसका दर्प नीचा करना, ब्रह्मास्त्र में बँधना एवं पुनः मुक्त कर लेना, लंका दहन, संजीवनी लाना, अहिरावण के षड़यन्त्र को विफल करना, राम रावण युद्ध में अद्भुत पराक्रम दिखाने जैसे अनेक कार्य हनुमानजी ने ही सम्पन्न किए। ऐसे कार्य इस धरा पर अन्य किसी जीवधारी ने किए हों ऐसा सुना नहीं गया। इनकी गुणावली अनन्त है। गोस्वामी तुलसीदास ने श्री रामचरितमानस के सुन्दरकांड में श्री हनुमानजी की वन्दना करते हुए उनके गुणों का वर्णन इन शब्दों में किया है -

अतुलितबलधामं, हैमशैलाभदेहं,
दनुजवनकृशानुं, ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं, वानराणामधीशं,
रघुपतिप्रियभक्तं, वातजातं नमामि।।

अतुलित बलशाली भी होना और ज्ञान में भी सर्वश्रेष्ठ होना यह विरल होता है। इतने पर भी निरहंकारी होना तो और भी कठिन होता है। लंका से सीता की खोज कर लौटने पर जब प्रभु राम ने उनसे पूछाः

'कहु कपि रावण पालित लंका। केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका।।'

तब श्री हनुमानजी ने जो उत्तर दिया उसे निरहंकारिता एवं सेवक धर्म की पराकाष्ठा कहा जा सकता है-

साखामृग के बड़ि मनुसाई। साखा तें साखा पर जाई।।
नाघि सिंधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा।।
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई।।

"प्रभो ! बंदर का एक मात्र यही पुरुषार्थ है कि वह एक डाल से दूसरी डाल पर चला जाता है। मैंने जो समुद्र लांघ कर सोने की लंका जलाई और राक्षसों को मारकर अशोक वन को उजाड़ा वह तो केवल आपका ही प्रताप एवं प्रसाद है, इसमें मेरे सामर्थ्य की कुछ भी बात नहीं है।" एक अन्य स्थल पर तो वे प्रभु से यह प्रार्थना करते हैं कि भूल से भी उनमें कर्त्तव्य के लिए अहंकार न आ जाए -

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।।

(मानस ३/१०-२१)

निरहंकारिता एवं सेवक-धर्म की इससे बड़ी कोई मिशाल हो ही नहीं सकती। महर्षि बाल्मीकि ने भी अपनी रामायण में श्री हनुमानजी को दैवी-गुणों का आलय बताते हुए लिखा है-

शौर्यं, दाक्ष्यं, बलं, धैर्यं, प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालया:।।

(वा. रा. उ-३५/३)

एक चतुर राजनीतिज्ञ एवं निपुण तथा निर्भरशील दूत के रूप में भी हनुमानजी का कोई सानी नहीं। सुग्रीव एवं राम की मैत्री का आधार वे ही बने एवं बाली की मृत्यु तथा सुग्रीव के राजा बनने के बाद जब सुग्रीव राज्य एवं अन्य भोगों में मग्न होकर राम-काज को भूल गए तब सुग्रीव को लक्ष्मणजी के क्रोध से बचाने में एवं उसे सीतान्वेषण के कार्य में तत्पर कराने में हनुमानजी की ही प्रमुख भूमिका थी। प्रभु राम को तो प्रारम्भ से ही यह विश्वास था कि सीतान्वेषण का कार्य केवल हनुमानजी के द्वारा ही संभव होगा, तभी तो अपनी अँगूठी (मुंदड़ी) उन्होंने केवल हनुमानजी को ही सौंपी हालांकि वानरवीर सभी दिशाओं में एवं बड़ी संख्या में निकले थे। वानरराज अंगद के नेतृत्व में निकला दल (जिसमें रीछपति जाम्बवान एवं स्वयं हनुमानजी भी थे) थक कर, निराश होकर समुद्र के किनारे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बैठ गया था, तब जाम्बवान ने हनुमानजी को संकेत कर कहा -

कहइ रीछपति सुनु हनुमाना। का चुप साधि रहेहु बलवाना।।
पवन तनय बल पवन समाना। बुधि बिबेक बिग्यान निधाना।।
कवन सो काज कठिन जग माहीं। जो नहिं होइ तात तुम्ह पाहीं।।
राम काज लगि तव अवतारा। सुनतहिं भयउ पर्बताकारा।।

(मानस ४-२९/३-६)

इसमें हनुमानजी के गुणों का तो वर्णन है ही, साथ ही यह भी संकेत हैं कि उनका तो जन्म ही रामकार्य करने हेतु हुआ है और आज जब रामकार्य उपस्थित है तो वे चुप कैसे बैठ सकते हैं ? इसका जादुई असर हुआ और हनुमानजी का शरीर पर्वताकार विशाल होगया। आगे और भी उनकी तेजस्विता का वर्णन है -

जिमि अमोघ रघुपति कर बाना। एही भाँति चलेउ हनुमाना।।

(मानस ५-०/८)

जैसे रघुनाथजी का बाण एकबार छूटने पर काम पूरा करके ही लौटता है वैसे ही हनुमान जी चले एवं समुद्र के बीच जब मैनाक पर्वत ने ऊँचा उठकर विश्राम करने का निवेदन किया तो उन्होंने उसका स्पर्श मात्र करके कहा-

राम काजु कीन्हें बिनु, मोहि कहाँ बिश्राम।

कैसी अद्‌भुत निष्ठा है प्रभु कार्य को पूर्ण करने में।

हनुमानजी ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। लंका में जाने का एकमात्र उद्देश्य सीता माता की खोज करना था पर उन्होंने विभीषण को अपने पक्ष में मिलाया, लंका को तहस-नहस किया एवं रावण सहित सभी राक्षसों को अपनी शक्ति से भयभीत कर दिया। युद्ध जीतने का आधा मार्ग तो इसी से प्रशस्त होगया।

युद्ध में हनुमानजी के घूसे का स्वाद मेघनाद, कुंभकर्ण एवं रावण ने चखा। मेघनाद मूर्छित हुआ, कुंभकर्ण धराशाई हुआ एवं रावण भी एक ही घूसे से मूर्छित हो गया। मूर्छा बीतने पर वह हनुमानजी के बल की प्रशंसा करने लगा परन्तु हनुमानजी ने कहा कि मेरे पौरुष को धिक्कार है जो मेरा घूसा खाकर तू जिन्दा बच गया। लंका में पुनः निःशंक घुस कर रावण एवं इससे पूर्व मेघनाथ के राक्षसी यज्ञ को इन्हीं ने विध्वंस किया।

रावण की मृत्यु के पश्चात् सीताजी को लंका से ले आने का कार्य भी प्रभु ने हनुमानजी को ही सौंपा-

पुनि प्रभु बोलि लियउ हनुमाना। लंका जाहु कहेउ भगवाना।।
समाचार जानकिहि सुनावहु। तासु कुसल लै तुम्ह चलि आवहु।।

(मानस-६/१०६-१)

भरतजी को राम आगमन का समाचार सुनाने के लिए भी प्रभु हनुमानजी को ही ब्रह्मचारी के वेश में भेजते हैं ताकि विवेकपूर्वक बाकी समाचार लेकर आएँ एवं जितनी आवश्यक समझे सूचनायें भी लाएँ। उसी रूप में सुग्रीव मिताई कराई थी हनुमानजी ने। ये सारे प्रसंग यह दर्शाते हैं कि सम्पूर्ण रामकथा में हनुमानजी ही प्रधान पात्र थे।

हनुमानजी की राम में कितनी एकान्तिक निष्ठा थी उसके लिए रामराज्याभिषेक के बाद का एक उदाहरण पर्याप्त है। कहते हैं कि राज्याभिषेक की खुशी में माता सीता ने इन्हें मोतियों का हार उपहार में दिया। हार पाने के बाद ये उसके एक-एक मोती को दाँतो से तोड़ते एवं फेंक देते। यह दशा देखकर सीता माता ने उन्हें बुलाया एवं समझाया कि ये बहुमूल्य मोती हैं। हनुमानजी ने कहा कि मैं तो यह देख रहा हूँ कि इनके भीतर 'राम' हैं या नहीं, जिसमें राम नहीं वह मेरे काम का नहीं। अत: तोड़ कर, देख कर फेंक देता हूँ। सीताजी ने प्रश्न किया कि क्या तुम्हारे भीतर भी राम हैं ? इसे सुनकर हनुमानजी ने अपनी छाती चीर कर दिखाई तो सभी ने देखा कि उसमें श्रीराम एवं सीता माता विराजमान हैं।

इन सब गुणों का एवं एकान्तिक भक्ति का यह परिणाम है कि श्रीराम स्वयं हनुमान से कहते हैं -

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।।
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा।।
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि विचार मन माहीं।।

(मानस-५/३१-५)

यह गौरव पूरी रामकथा में किसी भी पात्र या परिजन या सेवक को नहीं प्राप्त हुआ। अत: जिन्हें श्रीराम को प्राप्त करना हो, वे श्री हनुमान जी की शरण लें तो काज सुगम हो सकता है। भक्त तुलसी को भी इन्हीं के कारण प्रभु राम मिले, औरों के लिए भी यह मार्ग खुला है। जय-जय श्री हनुमान। ●

त्याग मूर्ति महर्षि दधीचि

देवासुर युद्ध में देवी शक्ति की विजय एवं आसुरी शक्ति के पराभव के लिए 'वज्र' नामक अस्त्र के निर्माण हेतु अपनी हड्डियाँ भी सहर्ष प्रदान कर देने के अनुपम त्याग के कारण भारतीय इतिहास में महर्षि दधीचि का नाम 'त्यागमूर्ति' के रूप में प्रख्यात है। प्राचीन काल में जब 'वृत्र' नामक असुर के अत्याचारों से त्रस्त होकर देवता वृत्रवध का उपाय पूछने भगवान विष्णु के पास गए तो भगवान विष्णु ने कहा कि वृत्र का वध केवल दधीचि की हड्डियों से बने वज्र से ही हो सकता है। इसपर देवगण दधीचि के पास गए एवं वृत्र के अत्याचारों एवं उसकी मृत्यु के उपाय से उन्हें अवगत कराया तो महर्षि देव-संस्कृति की रक्षार्थ अपनी अस्थियाँ देने सहर्ष प्रस्तुत हो गए। उन्होंने अपने शरीर पर विशिष्ट रसायन का लेप कर लिया एवं सूर्य की किरणों द्वारा अपने शरीर के रक्त, माँस एवं त्वचा को दग्ध कर दिया और शेष रही हड्डियों से देवताओं ने षट्कोनी वज्र तथा अन्य हथियार बनाए एवं तदुपरान्त युद्ध में वत्रासुर का वध कर देव-संस्कृति की पुनर्स्थापना की।

दन्तकथा के रूप में कुछ लोग गाय के द्वारा दधीचि के शरीर को चाट-चाट कर त्वचा, रक्त एवं मांस शेष कर देने एवं तब हड्डियों से वज्र बनाने की बात कहते हैं पर यह भ्रामक लगता है। यह भ्रम 'गो' शब्द के अर्थ का अनर्थ कर देने के कारण हुआ है। 'गो' शब्द के अनेक अर्थों में से जहाँ उसका अर्थ सूर्य की किरण है, वहाँ गाय भी है एवं इन्द्रियाँ भी है। इसी अर्थ भ्रम के कारण विचित्र प्रकार की दन्तकथा चल पड़ी है। वस्तुत: हम सभी जानते हैं कि गाय माँस-भक्षी प्राणी नहीं है। अत: इस कथा के सीधे एवं सरल अर्थ को ही लेना उचित है, यही विज्ञान सम्मत भी है। अत: विशेष प्रकार का लेप कर सूर्य की किरणों से अपने चर्म, रक्त एवं माँस को सुखा देने की बात ही युक्तियुक्त है, व्यवहार्थ है एवं परम्परानुकूल तथा विज्ञान के धरातल पर ठीक है।

दधीचि के इस अस्थि प्रदान के प्रकरण में पुराणों में एक अन्य प्रकार का उल्लेख भी प्राप्त है। देवासुर संग्राम के समय देवों ने महर्षि दधीचि के आश्रम को सुरक्षित मानकर अपने कुछ दिव्य अस्त्र उनके यहाँ रख छोड़े थे। पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने पर भी देवगण उन्हें वापस नहीं ले गए। इधर राक्षसी प्रभाव बढ़ते जानकर कहीं ये दिव्य अस्त्र असुरों के अधिकार में न चले जाएँ, यह विचार कर महर्षि ने योगबल से उन अस्त्रों का तेज अपने शरीर में समाहित

कर लिया। कुछ काल पश्चात् उन अस्त्रों की आवश्यकता जानकर देवता महर्षि के पास उन्हें वापस लेने आए तो महर्षि ने सारी स्थिति उनके सामने रख दी एवं देवों की विपत्ति पहचान कर अपनी अस्थियों से वज्र बनाने की सलाह दी। ऐसा भी कथन है कि जब देवता अनेक दिनों तक हथियार लेने वापस नहीं आए तो महर्षि ने उन हथियारों का तेज पानी में घोलकर पी लिया एवं बाद में जब देवता हथियार माँगने आए तो हथियारों के बदले अपनी हड्डियाँ लेने का देवों से आग्रह कर योगबल से अपना शरीर त्याग दिया।

वस्तुतः अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए इस प्रकार के अनुपम त्याग का उदाहरण दूसरा कोई नहीं है।

महर्षि दधीचि एक महान तत्ववेता भी थे। ये अथर्व कुल में उत्पन्न हुए थे। भागवत मत में इनका जन्म प्रथम मन्वन्तर स्वायंभुव में होना बताया है।

सायणाचार्य ने दधीचि की ब्रह्मविद्या की कथा दी है। दधीचि को ब्रह्मविद्या का ज्ञान था एवं इस कारण इनके देखने मात्र से असुरों का पराभव हो जाता था। इनके परलोक गमन पर असुरों की बढ़ती हुई संख्या से त्रस्त होकर इन्द्र ने इनकी खोज की एवं मधुविद्या बतानेवाले इनके अश्वमुख को शर्यणावत् सरोवर पर प्राप्त कर उसकी सहायता से असुरों का पराभव किया।

इनको अश्वमुख प्राप्त होने की कथा इस प्रकार है कि इनको 'प्रवर्ग्य विद्या' एवं 'मधुविद्या' नामक दो विशिष्ट विद्याएँ ज्ञात थीं। इन्द्र ने इनसे वचन ले रखा था कि ये विद्याएँ यदि किसी अन्य को सिखायेंगे तो इनका मस्तक काट दिया जाएगा। जब अश्विनों को ये विद्याएँ सीखने की इच्छा हुई तो दधीचि को उन्होंने इस हेतु राजी किया एवं उनका मस्तक काटकर अश्वमुख लगाकर उस मुख से ब्रह्मविद्या सीखी। वचनानुसार इन्द्र ने उनका वह सिर काट दिया तो अश्विनों ने उनका असली सिर पुनः लगा दिया। बाद में वही कटा सिर (अश्व का) ढूंढने पर इन्द्र को 'शर्यणावत्' सरोवर पर प्राप्त हुआ।

कथाओं की विभिन्नता के बावजूद भी मूल बात एक ही है कि महर्षि ने देवी-संस्कृति के रक्षणार्थ एवं असुरों के विनाश के लिए अपने सारे जीवन को होमकर अवतारों जैसा कार्य किया। गीता में भगवान ने अवतार के ये ही तो हेतु बताए हैं यथा- साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश एवं धर्म की संस्थापना। इस कार्य के लिए अपना सर्वस्व होम देने का उदाहरण महर्षि दधीचि के समान अन्यत्र मिलना कठिन है। अतः उनका दिव्य चरित्र युग-युग तक भारतवासियों को अपने जीवन लक्ष्य की प्रेरणा देता रहेगा। ●

तुलसी जयन्ती पर विशेष

संस्कृति गंगा के भगीरथ : गोस्वामी तुलसीदास

संकटों की संजीवनी है तुलसी साहित्य

देवगंगा को हिमालय से भारत के मैदानी भाग में लाकर इस देश का जैसा उपकार भगीरथ ने किया, ठीक वैसा ही उपकार आज के लगभग ५०० वर्ष पूर्व हमारी संस्कृति गंगा को देवभाषा संस्कृत के हिमालय से लोकभाषा की भूमि पर उतार कर गोस्वामी तुलसी ने किया। आज भी हमारे सांस्कृतिक संकटों में तुलसी साहित्य संजीवनी का कार्य कर सकता है।

उस कालखण्ड में हमारा देश दोहरे आक्रमणों से जूझ रहा था- एक था विदेशी सामरिक आक्रमण जिसके प्रहार से हमारी देशी राजसत्ताएँ चरमराकर टूटती जा रही थीं एवं दूसरा था विदेशी धार्मिक आक्रमण जो विवेक के बजाय तलवार, लोभ-लालच एवं छल-बल के भरोसे यहाँ के लोगों को अपने असहिष्णु धर्म में शामिल कर यहाँ की सहिष्णु धर्म-संस्कृति को समूल नष्ट करने के लिए कृत संकल्प था। इन दोनों के समान ही एक आंतरिक संकट भी यहाँ विद्यमान था जिसे हम स्वातंत्र्य वीर सावरकर के शब्दों में- 'सद्गुण-विकृति' कह लें या फिर आध्यात्मिक अतिवाद, पुरोहितवाद, पाखंडवाद इत्यादि नामों से पुकार लें, जिसने धर्मशास्त्र के नाम पर हमारे धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन को मानवीय दृष्टिकोण से विरत कर छोटा-बड़ा, स्पर्श-अस्पर्श एवं ऊँच-नीच के ताने-बाने में ऐसा उलझा दिया था कि हम अपने ही समाज-बंधुओं को अपने साथ जोड़कर रखने की अपेक्षा उनसे नाता तोड़ने में ही धर्म रक्षा समझने लगे थे एवं सामान्य-सी त्रुटि या अनेक बार बिना त्रुटि के भी राम और कृष्ण की संस्कृति को छाती से लगाये रखने वालों को समाज-बहिष्कृत करने में ही अपने शौर्य का प्रदर्शन या कर्त्तव्य की पूर्ति मानने लगे थे।

ऐसी विकट परिस्थिति में केवल राजा-महाराजा या गिने-चुने शास्त्रज्ञ पंडितों के भरोसे संपूर्ण समाज के मनोबल को उठाये रखना असंभव था। इसके लिए जनसामान्य को जागरूक करना ही एकमेव उपाय था। तुलसी ने अपने युग की इस चुनौती को स्वीकारा एवं हताश-निराश हिन्दू जाति के लिए लोकभाषा में कठिनाइयों से जूझकर विजयी होने वाले प्रभु राम का सामर्थ्यशील दिव्य चरित्र केवल लिखकर ही नहीं, बल्कि गा-गाकर एवं लोकमंचित कर

उसे लोक जीवन से अद्भुत रूप से जोड़ दिया। ऊँच-नीच के विषैले प्रभाव को भी रामभक्ति के संबल एवं केवट, शबरी, गीध, जटायु प्रभृति रामभक्तों के आख्यानों से शमन किया। इसने समाज को विघटन से उबारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

तुलसी संस्कृत के महापंडित थे। अतः वे चाहते तो संस्कृत में ही किसी दिव्य ग्रंथ की रचना कर पंडित समाज में उच्च स्थान प्राप्त कर सकते थे, पर उनका उद्देश्य तो इस प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्ति न होकर लोक जागरण करना एवं अपने धर्म पर श्रद्धा एवं विश्वास के साथ लोगों को टिकाये रखना था, अतः उन्होंने अपने समस्त काव्य ग्रंथों की रचना सोद्देश्य लोकभाषा में की ताकि सामान्य जन से उनका सीधा संवाद कायम हो सके। समाज के शिव (मंगल) की भी उनके लिए यही आज्ञा थी। यह संप्रेषणीयता केवल तब ही सार्थक नहीं थी, बल्कि आज भी उतनी ही सार्थक बनी हुई है और महल से लेकर झोपड़ी तक 'रामचरितमानस' का पठन-पाठन आज भी इसका प्रमाण है। केवल अपने देश में ही नहीं, बँधुआ बनाकर विदेशों में ले जाये गये हिन्दुओं को भी अपने धर्म पर टिकाये रखने में तुलसीकृत रामचरितमानस की पोथी ही प्रमुख सहारा बनी, यह जगजाहिर है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी संस्कृत के सम्पूर्ण वाङ्मय में से तुलसी कोई भी चरित्र उठा सकते थे, पर असमानता की सामयिक लड़ाई में, सामाजिक वैषम्य की लड़ाई में, क्षीण होती धर्म-मर्यादाओं की पुनर्स्थापना की लड़ाई में तुलसी द्वारा राम के चरित्र का चयन भी सोद्देश्य ही था। युग की चुनौती को झेलने के लिए उन्होंने उस चरित्र को भी अपने ढंग से प्रस्तुत किया एवं विवाद से बचने हेतु 'स्वान्तः सुखाय' कहा। तभी तो 'तुलसी के राम' 'वाल्मीकि के राम' से थोड़े भिन्न हो गये। तुलसी ने न शम्बूक-वध को स्वीकारा एवं न ही सीता निर्वासन को, क्योंकि ये घटनाएं तुलसी के लोक मंगल एवं लोक जागरण के उद्देश्य से मेल नहीं खाती थीं। तुलसी एक सजगशिल्पी की भूमिका निभा रहे थे।

परन्तु किसी भी समाज सुधारक या उद्धारक को जैसी त्रासदी में से गुजरना पड़ता है, तुलसी भी उसके अपवाद नहीं थे। राम का चरित्र लोकभाषा में लिखने के कारण धर्म के ठेकेदारों ने उन्हें आराम से नहीं बैठने दिया। मानस को चुराने के भी प्रयत्न हुए, पर तुलसी सबको झेलते हुए आगे बढ़ते रहे। आश्चर्य तो यह है कि जिस पुरोहितवाद से उन्हें आजीवन जूझना पड़ा, हमारे युग में नास्तिकवादियों ने उन्हें ही पुरोहितवाद का रक्षक कहकर अपने प्रहारों का निशाना बनाया, क्योंकि ऐसे लोगों का असली उद्देश्य तो हिन्दू समाज को कमजोर करना था और यह कार्य तुलसी जैसे फलदार वृक्ष को बिना ढहाये होना दुष्कर था। अतः मोटी-मोटी पोथियां लिखकर उन्हें 'हिन्दू समाज का पथभ्रष्टक' भी प्रचारित किया गया। यह त्रासदी हिन्दू समाज और गहराई से झेलता यदि रूसी साहित्यकार तुलसी को मान्यता नहीं देते।

तुलसी साहित्य की व्यापक दृष्टि एवं मूल उद्देश्य को ठीक से न पहचानने वाले कतिपय आस्तिकजन भी कभी-कभी रामचरितमानस के गौण प्रसंगों को लेकर उहापोह में उलझे रहते हैं। संपूर्ण मानस में से छह-आठ पंक्तियों को लेकर ही वे भी वामपंथियों के स्वर में स्वर मिलाने लग जाते हैं और तुलसी को नारी अधिकारों का विरोधी एवं जाति-पाँति का पोषक होने का दोषारोपण करते रहते हैं। थोड़ी सी गहराई में जाने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि नारी के सम्मान एवं जाति-पाँति से उत्पन्न ऊँच-नीच को नकारने वाले प्रसंग उसी मानस में भरे पड़े हैं। उस कालखंड की जैसी सामाजिक परिस्थिति थी उसकी छाया कहीं-कहीं काव्य में आ जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

अत: उस गौण अंश को छोड़कर चलने में न तो तुलसी का काव्य आड़े आता है, न तुलसी की मूल दृष्टि ही। अपने युग में जब तुलसी रामकथा से शम्बूक का प्रसंग छोड़ सकते हैं तो क्या उनके मूल उद्देश्य एवं तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का विचार कर हम लोग उन कुछेक गौण पंक्तियों के व्यामोह से अपने को उबार नहीं सकते ? उससे उबरने पर हमें सहज ही मानस का अदभुत काव्य-रस एवं चिर प्रेरक रामचरित की झांकी प्राप्त हो सकती है, जो आज भी हमारे लिए पथ-प्रदर्शक एवं पाथेय बन सकती है।

रामचरितमानस तुलसी की सबसे बड़ी एवं उत्कृष्ट रचना है। संवत् १६३१ में रामनवमी के दिन इसका शुभारम्भ हुआ एवं लगभग २२ माह में राम विवाह के दिन यह पूर्ण हुई। आज हमारा सबसे बड़ा सांस्कृतिक संकट हमारी नई पीढ़ी का परंपरा से कट जाना है। तुलसी ने उत्तरकाण्ड में इसमें माता-पिता का दोष बताते हुए कहा है-

'मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं।
उदर भरे सोई धर्म सिखावहीं'।।

यह कितना सही है इसे हम खुद आज अनुभव कर सकते हैं।

उनके अन्य ग्रंथों में विनय पत्रिका, गीतावली, दोहावली, कवितावली, कृष्णगीतावली, रामलला नहछू, वैराग्य संदीपनी, रामाज्ञा प्रश्न, बरवै रामायण, जानकी मंगल एवं पार्वतीमंगल प्रमुख हैं। कुछ विद्वान उनके ग्रन्थों की संख्या ५१ तक भी मानते हैं। कृष्णगीतावली में कृष्णलीला सम्बन्धी ६१ पद हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उनमें केवल रामभक्ति का ही दुराग्रह नहीं था जैसा कि कुछ लोग आरोपित करते हैं।

तुलसी का जन्म आज से ५१३ वर्ष पूर्व संवत् १५५४ वि. की श्रावण शुक्ला सप्तमी को प्रयाग में बांदा जिले के राजापुर नामक ग्राम में आत्माराम दूबे एवं हुलसी के परिवार में हुआ। ये प्रतिष्ठित सरयूपारीण ब्राह्मण थे। मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण अमंगल की आशंका

से माता ने नवजात शिशु को अपनी दासी चुनिया को सौंप दिया एवं दूसरे ही दिन वे संसार से चल बसीं। चुनिया ने अपने घर ले जाकर उनका लालन-पालन ५-६ वर्ष तक किया एवं वे भी संसार छोड़ गईं। तुलसी अब अनाथ हो गए। तब बाबा नरहरिदासजी की कृपा दृष्टि इन पर पड़ी एवं वे इन्हें अयोध्या ले आये। वहीं उन्हें राम मंत्र की दीक्षा मिली एवं प्रारंभिक अध्ययन हुआ। बाद में वे काशी आये एवं शेष सनातनजी के पास वेदाध्ययन कर अपने ग्राम लौट कर विवाह किया। पत्नी की फटकार से वे विरक्त होकर साधु बनकर काशी, चित्रकूट एवं अयोध्या में रमते रहे। अयोध्या में ही उन्होंने रामचरितमानस की रचना की। १२६ वर्ष की आयु में संवत् १६८० की श्रावण कृष्ण तृतीया को राम राम कहते हुए ये प्रभु चरणों में लीन हो गये। सारा हिन्दू समाज उनके महान योगदान के लिए चिर ऋणी रहेगा। ●

कीर्ति तुम्हारी अमर रहेगी

राम शरद इतिहास सदा, गाएगा गान तुम्हारा।
कीर्ति तुम्हारी अमर रहेगी, जब तक सरयू धारा।।
जन्मभूमि के उच्च शिखर पर, भगवा ध्वज फहराकर।
मान रख लिया देश धर्म का, अपनी बलि चढ़ाकर।।
धन्य पिता श्री हीरालाल जी, धन्य सुमित्रा माता।
बहन पूर्णिमा धन्य हुई, पाकर ऐसे दो भ्राता।।
धन्य संघ संगठन तंत्र, तुमसे दृढ़ वीर बनाए।
विपदाओं को कर अनदेखा, निर्भय कदम बढ़ाए।।
हुई प्रतीक कारसेवा अब, नवनिर्माण करेंगे।
जब तक काम न पूरा होगा, चैन नहीं हम लेंगे।।

पंचम जन्मशती वर्ष पर विशेष

कृष्ण दीवानी भक्तिमती मीरांबाई

मीरां के भजन आज भी सर्वत्र देश, काल एवं भाषा की सभी सीमाओं को लांघ कर श्रद्धा से गाए एवं सुने जाते हैं। आज से ५०० वर्ष पूर्व जन्मी मीरां ने भक्तिगंगा की ऐसी वेगवती धारा प्रवाहित की जिसके प्रवाह के सामने उस कालखण्ड की तथाकथित लोकलाज एवं उच्च कुल की मान-मर्यादा सहित परिवार की सारी बाधायें निष्प्रभावी सिद्ध हुईं एवं मीरां हर बाधा को तुच्छ मान, हर संकट को प्रभु का प्रसाद समझ, आनन्दपूर्वक नाचते-गाते अपने सांवरिया को रिझाते, बिना लड़खड़ाये भक्ति की सुदृढ़ पताका थामे द्वारकाधीश के विग्रह में यह गाते-गाते लीन हो गई - "अब प्रभु तुम ऐसे मिलो कि फिर न बिछुड़ना होय"।

मीरां की जन्मतिथि के विषय में यद्यपि मतैक्य नहीं है पर प्रचलित जनश्रुति के अनुसार उनका जन्म विक्रम संवत् १५६१ (मेड़ता शहर के मीरां मन्दिर में मीरां की मूर्ति पर यही संवत् उत्कीर्ण है) की शरद पूर्णिमा के दिन राजस्थान की मरुभूमि में मेड़ता नामक शहर से १८ मील दूर एक सुरम्य पहाड़ी पर बसे कुड़की ग्राम में प्रसिद्ध राठौर राजवंश के राव दूदाजी के चौथे पुत्र रतनसिंह एवं धर्मपरायणा वीरकंवरी के परिवार में हुआ। राव दूदाजी ने वि.सं. १५१८ में मालवा के सुल्तान महमूद खिलजी से मेड़ता छीनकर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया था एवं रतनसिंह को कुड़की सहित १२ गावों की जागीर सौंप दी थी। मीरां रतनसिंह की इकलौती सन्तान थी। उससे पहले जन्मे भाई गोपाल की मृत्यु हो चुकी थी। दुर्भाग्यवश जब मीरां ३-४ वर्ष की थी तभी उसकी माँ की मृत्यु हो गई एवं तदुपरान्त लालन-पालन हेतु उसकी दादी उसे मेड़ता ले आई जहाँ राव दूदाजी के सबसे बड़े पुत्र राव वीरमदेव की पत्नी ने उसे अपनी पुत्री की तरह ही बड़े लाड-प्यार से पाला। पितामह राव दूदाजी की तो वह लाडली थी ही।

राव दूदाजी बड़े भक्त थे, उन्होंने मेड़ता में ही अपने इष्टदेव चारभुजानाथ का भव्य मन्दिर बनवाया जहाँ नित्य कथा कीर्तन चलता था एवं वे उसमें बराबर जाते रहते थे। मीरां भी सदैव उनके साथ ही रहती। इस प्रकार बचपन में ही मीरां में भक्ति के अंकुर प्रस्फुटित हो गए एवं एक प्रकार से उसके दादा ही उसके गुरु या प्रेरणा स्रोत बने। वैसे मीरां ने लिखा है कि यह भक्ति उनकी एक जन्म की न होकर जन्म-जन्मान्तर की थी यथा- "मीरां दासी जनम-जनम की", "पूरब जनम की प्रीति हमारी" - इत्यादि।

राव दूदाजी के पास बड़े-बड़े सन्त महात्माओं का भी निरन्तर आना-जाना लगा रहता था। एकबार एक सन्त का वहाँ ३-४ दिन का प्रवास हुआ। उनके पास गिरधर गोपाल की मूर्ति थी जिसकी वे नित्य पूजा अर्चना करते। मीरां को यह मूर्ति मन में भा गई एवं इस मूर्ति को अपने पास रखने का वह हठ करने लगी। महात्मा भला अपनी पूजा का विग्रह क्यों देते ? वे चले गए तो मीरां ने मूर्ति के लिए जिद करके खाना-पीना बन्द कर दिया। उधर रास्ते में महात्मा को स्वप्न में भगवान का आदेश हुआ कि मेरे विग्रह को मीरां के पास पहुँचा दो। महात्मा ने लौटकर विग्रह मीरां के हाथ में थमा दिया। सारा राजमहल इससे चकित रह गया। कुछ लोगों का मानना है कि ये महात्मा रैदास ही थे जिन्हें मीरां ने अपना गुरु माना है। एकदिन मीरा अपनी बड़ी माँ के साथ राजमहल से किसी बारात को देख रही थी। सजे-धजे दूल्हे को देखकर वह पूछ बैठी- "मेरा दूल्हा कहाँ है ?" बड़ी माँ ने कहा कि गिरधर गोपाल ही तुम्हारे दूल्हे हैं। इसी वाक्य ने मीरा को इच्छित वरदान दे दिया। वह सच्चे रूप से गिरधर गोपाल को ही अपना पति मानकर दिन-रात उनकी सेवापूजा और भी आग्रह से करने में जुट गई।

मीरां जब १२ वर्ष की हुई तो दूदाजी ने उसके लिए योग्य वर तलाशने की सोची। उस समय मेवाड़ का घराना पूरे हिन्दू समाज का शिरमौर था। दूदाजी ने महाराणा सांगा के सबसे बड़े पुत्र भोजराज से मीरां के विवाह का सोचा पर अचानक ही वे चल बसे। उनके बाद राव बीरमदेव मेड़ता की गद्दी पर बैठे एवं उनके प्रयत्न से वि.सं. १५७३ की वैशाख शुक्ला ३ को मीरां का विवाह कुंवर भोजराज से सम्पन्न हुआ। स्वयं महाराणा सांगा भी बारात में शामिल थे। विवाह तो सानन्द सम्पन्न हो गया पर मीरां के मन में उत्साह नहीं था, वह तो संशयग्रस्त थी। मीरां का मानना था कि उसका विवाह तो पहले ही गिरधर गोपाल से हो चुका है, अब और विवाह कैसा ? परिवार के दबाव में एवं 'मेड़ता राजवंश की कीर्ति कलंकित न कर !' इस उलहाने की विवशता में वह विवाह मंडप में फेरे लेने बैठ गई पर चँवरी में गिरधर गोपाल का विग्रह भी प्रतिष्ठित करवा लिया एवं मन ही मन में तय कर लिया कि उसने तो अपने गिरधर गोपाल से ही फेरे लिए हैं।

विवाह कर जब वह चितौड़ पहुँची तो रूप-गुण देखकर ससुराल के सभी लोग प्रसन्न हुए पर शीघ्र ही नाराजगी का अवसर भी आ गया। गौरी पूजन के दिन सास एवं नणद ने सुहाग के लिए गौरी पूजन हेतु जाने को कहा तो मीरां ने यह कहते हुए किसी की एक न सुनी कि उसका सुहाग तो अखंड है, जिसे सन्देह हो वह किसी अन्य देव की पूजा करे। इसकी परिणति की भी हम स्वाभाविक रूप से ही कल्पना कर सकते हैं पर कुँवर भोजराज विवेकी व्यक्ति थे एवं मीरां के स्वभाव एवं सेवाभाव से प्रसन्न थे अतः उनके आपसी रिश्तों में खटास नहीं आई और उन्हें यह लगने लगा कि यह तो पूर्व जन्म की कोई गोपी है। कहते

हैं कि भोजराज ने मीरां की सहमति से दूसरा विवाह भी कर लिया पर राजाओं में बहु विवाह की प्रथा वैसे भी प्रचलित थी। मीरां के श्वसुर राणा सांगा भी केवल महान योद्धा ही नहीं उतने ही आस्तिक एवं भक्त भी थे अतः वे मीरां के प्रति उदार बने रहे एवं श्याम मंदिर के पास ही एक अलग महल बनवा दिया ताकि उसमें रहकर मीरां दिन-रात अपने इष्टदेव की सेवा कर सकें।

पर संसार तो बदलता रहता है, सुख-दुःख का पाला भी बदलता रहता है। मीरां पर भी अचानक दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। वि.सं. १५८० में उसके पति भोजराज का देहान्त हो गया एवं उसके चार वर्ष पश्चात १५८४ वि. में उसके श्वसुर राणा सांगा भी बाबर के साथ हुए इतिहास प्रसिद्ध खानवा के युद्ध में घायल होकर परलोक सिधार गए। इसी युद्ध में उसके पिता रतनसिंह एवं चाचा रायमल भी मारे गए। राणा सांगा के बाद उनके दूसरे पुत्र रतनसिंह गद्दी पर बैठे पर वे भी १५८८ वि. में एक युद्ध में मारे गए एवं तब चितौड़ की गद्दी पर बैठे मीरां के देवर विक्रमाजीत जिसे मीरां की यह भक्ति फूटी आँख से भी नहीं सुहाती थी। उनकी दृष्टि से मीरां उनके महान राजघराने की मर्यादा भंग कर उसे कलंकित कर रही थी।

विक्रमाजीत ने मीरां को इससे विरत होने के लिए अपनी बहन एवं अन्य दास-दासियों को भी लगाया पर इसका अनुकूल असर न होने पर उस पर नाना प्रकार की पाबन्दियाँ लगा दी। पर मीरां कब इन प्रतिबन्धों को स्वीकार करने वाली थी ? वह कह उठी -

राणोजी रूठै तो म्हारो कांई करसी, म्हे तो गोविन्द का गुण गास्यां हे माय।
राणोजी रूठै तो बांरो देश राखसी, हरि रूठ्यां कित जास्यां हो माय।।
लोकलाज की काण न मानां, निरभै निशान घुरास्यां हो माय।।...

*

बरजी मैं काहू की नहीं रहूँ।
सुनो री सखी तुमसौं या साची बात कहूँ।।...

राणा इससे बहुत ही क्रुद्ध हो गए एवं उन्होंने अब कुचक्र चला कर मीरां को मिटा देने का संकल्प कर लिया। पहले उन्होंने भयंकर नाग को पिटारी में बन्द कर शालगराम के नाम से मीरां के पास भिजवाया ताकि वह उसे डस ले पर आश्चर्य, वह तो शालगराम की मूर्ति ही बन गई। बाद में जहर का प्याला भेजा, वह भी चरणामृत बन गया एवं मीरां का बाल भी बांका नहीं हुआ। अब उसके क्रोध का पारावार नहीं रहा। इधर मीरां ने राजघराने का वातावरण भक्ति-साधना के इतना प्रतिकूल पाया कि वहाँ से चला जाना उचित समझ कर अपने पीहर पत्र लिखा। मेड़ता से राव बीरमदेव जी भागे-भागे आए एवं परिस्थिति देख कर मीरां को मेड़ता ले गए।

इस पर भी संकट ने मीरां का साथ नहीं छोड़ा। जोधपुर के राजा ने मेड़ता पर हमला कर दिया एवं राव बीरमदेव को मेड़ता छोड़ कर अजमेर में आश्रय लेना पड़ा। मीरां भी उनके साथ ही गई। एक वर्ष बाद अजमेर में भी ऐसी ही स्थिति उत्पन्न होने पर मीरां कृष्णभक्ति के लिए वृन्दावन प्रस्थान कर गई।

मीरां अब पूर्णतः संन्यासिन बन गई एवं वृन्दावन के उस समय के प्रसिद्ध सन्त श्रीजीव गोस्वामी के दर्शन करने गई। गोस्वामीजी ने स्त्री होने के नाते मीरां से मिलने से मना कर दिया। मीरां ने उत्तर में कहलाया कि वह तो जानती थी कि वृन्दावन में केवल श्रीकृष्ण ही एक पुरुष हैं बाकी सब उनकी प्रकृति है पर आज पता लगा कि यहाँ कोई दूसरा भी पुरुष है। इससे श्रीजीव गोस्वामी प्रसन्न हुए एवं मीरां से प्रेमपूर्वक मिले एवं सत्संग किया। मीरां को वृन्दावन भा गया एवं वह बहुत दिन तक वहाँ रही। उनका प्रसिद्ध भजन है –

आली मोहि लागे वृन्दावन नीको।
घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, भोजन दूध दही को।।...

उधर कालचक्र ने मोड़ लिया। १५९५ वि. में महाराणा प्रताप के पिता महाराणा उदयसिंह मेवाड़ के अधिपति बने। उन्होंने मीरां को मेवाड़ लौट आने का आग्रह किया। मीरां के पीहर से भी लौट आने का दबाव बढ़ रहा था। इसे टालने हेतु मीरां वृन्दावन छोड़ कर द्वारिका चली गई। वहाँ जाने पर भी उदयसिंह का आग्रह एवं दबाव बढ़ता ही रहा क्योंकि राज ज्योतिषियों का कहना था कि मीरां के लौटने से ही मेवाड़ का पुनः भाग्योदय होगा। उदयसिंह ने दो ब्राह्मणों को द्वारिका भेजा एवं किसी भी तरह मीरां को लौटा लाने की हिदायत दी। ब्राह्मणों ने मीरां के मना करने पर अनशन कर प्राणान्त की बात कही तो मीरां ने एकदिन का समय मांगा एवं उसी रात्रि में द्वारिकाधीश की मूर्ति के सामने नाचते-गाते उन्हीं की मूर्ति में समा गई। यह घटना वि.सं. १६०३ की है। कहते हैं कि जब मीरां प्रभु के सामने नाच रही थी तो प्रभु ने अकस्मात उन्हें अपने में लीन कर लिया एवं संसार के दिखावे हेतु मीरां की चूनड़ी का एक छोर अपने मुख से लटका हुआ बाहर रहने दिया ताकि लोग इसे जान सकें।

यह भी कहा जाता है कि मीरां एवं सन्त तुलसीदास का भी संवाद हुआ था। तुलसी ने *'जाके प्रिय न राम वैदेही, तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही'* पद मीरा को ही इंगित कर लिखा था।

यद्यपि इतिहास में मीरां के बारे में अधिक कुछ नहीं लिखा गया है पर मीरां आज भी अपनी भक्ति एवं भक्तिपदों के कारण जन-जन के हृदय में जीवित है। उनकी जन्म पंचशती का जगह-जगह मनाया जाना इसी का प्रमाण है। ●

वनवासी राम की प्रतिज्ञा और उसका निर्वाह

निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ पन कीन्ह

भारतीय संस्कृति का सनातन प्रवाह अवरुद्ध होता जा रहा था– आसुरी सभ्यता का संचार गंगा के दक्षिणी छोर पर भी दरवाजे खटखटा रहा था। ऋषि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम के आसपास विन्ध्य की उत्तरी तराई के क्षेत्र को ताड़का एवं मारीच ने लगातार छापामार पद्धति से जनशून्य कर दिया था। विन्ध्य के दण्डकारण्य क्षेत्र में पंचवटी के समीप ही रावण के भाई खर ने एक राक्षस जनस्थान स्थापित कर लिया था जिसमें चौदह सहस्र दुर्धर्ष राक्षस योद्धा सपरिवार बस चुके थे एवं यहीं से छापामार असुरों की टोलियां दूर-दूर तक छापे डालती और वनवासियों एवं ऋषि मुनियों की झोंपड़ियों एवं आश्रमों पर टूट पड़ती, पुरुषों एवं बच्चों को मार कर खा जाती, स्त्रियों को उठाकर ले जाती एवं बस्तियों में आग लगा देती। इस प्रकार भारत के अधिकाधिक क्षेत्र को आसुरी अधिकार में लाने की सतत् योजना लंका में बैठे असुरराज रावण के निर्देशन में चल रही थी।

कुबेर को लंका से भगाकर उसपर सहज ही अधिकार कर लेने के बाद रावण भोग पर आधारित आसुरी संस्कृति के प्रसार एवं सम्पूर्ण भारत पर स्वयं के निष्कंटक राज्य हेतु अधिकाधिक शक्ति संचय करने लगा। फलस्वरूप उपद्रव बढ़ते गए एवं आसपास के सारे राज्य त्राहि त्राहि कर उठे। जहां भी सम्पत्ति दिखाई दी, सुन्दर स्त्रियां दिखाई दी, रावण के चरों ने बलपूर्वक छीनना प्रारंभ कर दिया एवं कहीं भी सुन्दर स्थान देखा तो उसपर बलपूर्वक अधिकार कर लिया। सर्वत्र अमर्यादित भोग एवं पाशविक आचरणों का बोलबाला हो उठा एवं प्रजा निरीह होती चली गई।

शक्ति के मद में आकर रावण ने हिमालय के अंचल में बसी कुबेर की दूसरी नगरी अल्कापुरी को भी जा लुटा, सुन्दर स्त्रियों को एवं धन को बांध लाया। अन्य देवलोकों पर भी आक्रमण किए एवं इन्द्र की पुरी अमरावती पर भी अभियान कर देवराज इन्द्र को बन्दी बना लिया। मेघनाथ को दिव्य शक्ति दे देने के बाद सन्धि करके ही इन्द्र को छोड़ा गया। इधर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक उसके राक्षस अनियंत्रित अत्याचार में तो पहले से ही लगे हुए थे, अब देवलोकों की विजय के बाद रावण की दृष्टि अन्य राज्यों पर सैनिक अभियान

की ओर लगी और वह नर्मदा के किनारे अवस्थित महिष्मति नगरी पर जिसका सौन्दर्य अमरावती से भी अधिक था- चढ़ बैठा। पर वहां के राजा अर्जुन से उसे मुँह की खानी पड़ी और रावण स्वयं बन्दी बन गया। रावण के पिता ऋषि विश्रवा जिनका अर्जुन सम्मान करता था, के बीच बचाव से रावण मुक्त हुआ। किन्तु रावण चुप होकर नहीं बैठने वाला था। इस बार उसने छल का सहारा लिया एवं पम्पापुर के राजा बालि को, जब वह तपस्यारत था, पकड़ कर बन्दी बनाने का जाल रचा किन्तु बालि ने रावण को देख लिया एवं ज्योंही रावण बालि पर झपटा, बालि ने उसे बगल में दबा लिया एवं कैद कर दिया। अन्ततोगत्वा दोनों में सन्धि हुई। रावण राजनीति में चतुर था अत: बालि को मित्र बनाकर उसने उत्तर की ओर अपने सैनिक अभियानों के लिए एक पट्टी बालि के राज्य में से प्राप्त कर ली।

इन अभियानों की असफलता से रावण ने पुन: छापामार युद्ध नीति ही अपनाई एवं धीरे-धीरे उसके सैनिक बनवासियों एवं मुनियों को मारकर सफाया करने लगे एवं भयभीत होकर लोगों के भाग जाने पर उस जन-शून्य स्थान पर राक्षसी अधिकार कायम करने लगे। राक्षसों का विश्वास था कि यज्ञों का ध्वंस एवं ऋषि, मुनियों का नाश होने पर आर्य राजा स्वत: ही कमजोर हो जाएंगें एवं तब उनसे सैनिक अभियान चलाकर निपटा जा सकेगा।

इसी नीति के अन्तर्गत चलाये गए निरन्तर के अभियानों से अब विन्ध्य का उत्तरी क्षेत्र भी त्राहि-त्राहि करने लगा किन्तु अब भी आर्य राजा इस दुरभिसन्धि से बेखबर थे।

गंगा की दक्षिणी और विन्ध्य की तलहटी में बसे राजर्षि विश्वामित्र के सिद्धाश्रम के क्षेत्र में भी रावण के प्रतिनिधि ताड़का एवं मारीच निरन्तर उत्पात मचा रहे थे। राजर्षि विश्वामित्र की क्षत्रिय दृष्टि भारत के भवितव्य से चिन्तित हो उठी। उन्होंने सारी परिस्थितियों पर विचार किया। उत्तर में बसे देवलोकों के सारे देव रावण से पराजित होकर उसके साथ सन्धियों में बंध चुके थे, विन्ध्य के राज्यों से भी रावण की मैत्री सन्धियां थीं एवं इन्ही के आधार तथा स्वयं के अपरिमित सैन्य साधनों के बल पर समग्र भारत को क्रमश: ग्रस लेने हेतु एक सुनियोजित योजना से रावण अपने अधिकार क्षेत्र को विस्तृत करता जा रहा था। इधर अनेक क्षत्रिय राजा परशुराम के हाथों अपने प्राण गवाँ चुके थे और जो बाकी बचे थे वे देश की परिस्थितियों एवं रावण की दुरभिसन्धी से एकदम बेखबर थे। आपस में भी उनमें मेल मिलाप कम था।

इस पर भी विश्वामित्र निराश नहीं हुए। उनकी अन्वेषी दृष्टि अयोध्या के राजा दशरथ के पुत्र राम एवं लक्ष्मण पर जा टिकी। उन्हें लगा कि राम को लाकर वनों की स्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन कराके यदि उनकी मनस्थिति संघर्ष के लिए तैयार की जा सके तो आज भी देवर्षि नारद, महर्षि अगस्त्य एवं उनके अनेक शिष्य जो विन्ध्य के दक्षिण में आसुरी शक्तियों

के विरुद्ध डटे हुए हैं, के भरोसे परिस्थितियों को बदला जा सकता है। विश्वामित्र स्वयं भी दिव्यास्त्रों के जानकार थे, महर्षि अगस्त्य उनसे भी बढ़कर थे। विश्वामित्र को लगा कि परिस्थितियां काबू से बाहर नहीं गई है।

इस संकल्प के उदय होते ही वे अयोध्या की ओर चल पड़े। वहां जाकर, राज पुरोहित ऋषि वशिष्ठ जो सदैव उनके विरोधी रहे, को भी भारत पर छाई हुई विपत्तियों का दिग्दर्शन कराकर अपने अनुकूल बनाया एवं दशरथ से राम, लक्ष्मण को लिवा लाने में समर्थ हो गए। वन में लाकर विश्वामित्र ने सारी स्थिति से राम को अवगत कराया एवं अपनी अपेक्षा भी बतादी। राम ने ऋषि को आश्वस्त किया। ताड़का वध से राम के परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर विश्वामित्र ने उन्हें विभिन्न दिव्यास्त्रों की शिक्षा दी "तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही, विद्यानिधि कहुँ विधा दीन्ही" और यहीं से प्रारंभ हो गया आसुरी सभ्यता को भारत से उखाड़ फेंकने का वह नवीन अध्याय, जिसे राम अपना जीवन-लक्ष्य बना चुके थे एवं जिसकी पूर्णाहुति उन्होंने रावण-वध से की।

कुछ लोग राम वन गमन को एक आकस्मिक घटना ही मान लेते हैं, किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। राम एवं विश्वामित्र की सहमति से देवर्षि नारद ने ही मन्थरा के माध्यम से यह सारा उपक्रम रचाया था। राम तो विश्वामित्र से अपने जीवन कार्य के बारे में वचन बद्ध हो ही चुके थे। ऊपर वर्णित चौपाई में विश्वामित्र द्वारा राम को 'निज नाथहि जियँ चीन्ही' कहला कर तुलसी ने भी सब कुछ कह दिया है। कुछ लोग रावण-वध के लिए सीता हरण एक मात्र कारण मानते हैं, वे भी भ्रम में हैं। अपने वनवास के समय सीता हरण से पूर्व शरभंग ऋषि के आश्रम में जाकर ऋषि-मुनियों के समक्ष राम ने 'निसिचर हीन करउँ महि' की जो भीषण प्रतिज्ञा की थी, वह राम के वन गमन का हेतु स्पष्ट करने को पर्याप्त है।

किन्तु 'निसिचर हीन' करने का कार्य सहज नहीं था, न एकदम सहज ही हुआ भी। इसके पीछे लगी थी राम की अनेक वर्षों की सतत साधना। दण्डकारण्य में प्रवेश करने के उपरान्त राम पंचवटी के राक्षसी संचालन केन्द्र के निकट ही १२ वर्ष तक कार्यरत रहे एवं कठोर परिश्रम से वहां के समस्त जनसमाज को संगठित एवं शस्त्र दीक्षित किया। रावण के मित्र बाली का पराभव किया। अनुकूलता तो मात्र इतनी ही थी कि अगस्त्य जैसे ऋषि एवं उनके कुछ साथी पहले से ही इस कार्य में लगे थे एवं उन्होंने भी अपने दिव्यास्त्र राम को समर्पित किए किन्तु बाकी तो सब कुछ ही विपरीत था। राम ने असंगठित एवं भयभीत वनवासी जनसमाज को एक सुसंगठित स्वरूप देकर प्रबल आसुरी शक्ति से लड़ाकर विजयश्री दिलाई, इसमें न देव उनके सहायक बने, न अन्य आर्य राज्य। आर्य राज्य अन्यमनस्क रहे, देवता राम की विजय पर केवल दुंदुभियां बजाकर घर चले जाते एवं यहां तक कि ऋषि-मुनियों

में से भी कुछ लोग रावण के साथ मिल गए थे 'रिषि अगस्ति कीं साप भवानी, राछस भयउ रहा मुनि ग्यानि' (५-५६/११) से यह स्पष्ट है।

किन्तु विश्वामित्र, नारद एवं अगस्त्य जैसे ऋषियों की जागरुक दृष्टि, राम की अद्भुत संगठन शक्ति एवं निश्छल वनवासी समाज जब एकत्र आ गए तो सारे भारत से आसुरी आतंक समाप्त हो गया, असुर समाप्त हो गए।

राम के वंशज राणा प्रताप एवं छत्रपति शिवाजी के कठिन कालखंड में भी जब सारा प्रबुद्ध समाज विपरीत दिशा में ही जा रहा था, हमारे वनवासी बन्धुओं ने ही जान की बाजी लगाकर उन महापुरुषों का साथ दिया एवं परिस्थितियों की धारा को मोड़ा।

आज भी जब हमारा देश बहुविध षड़यंत्रों का शिकार बना हुआ है, बुद्धिजीवी समाज भी बेखबर होकर अपने में ही लीन है और दुष्टों के मानवाधिकारियों की ही बात करने में ज्यादा उत्साही दिखता है, राष्ट्र के हितैषियों का यह कर्तव्य है कि वे अपने युग-युग से विश्वस्त वनवासी बन्धुओं एवं समाज के अन्य राष्ट्रभक्तों की सुप्त शक्तियों को जाग्रत कर फिर से भारत के गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा करें। ●

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप

स्वाधीनता के लिए संघर्षरत सभी देशभक्तों के लिए महाराणा प्रताप का नाम महान प्रेरक एवं परम आदरणीय है। अतः जब कभी देश के स्वातंत्र्य-नभ में काला-पीला अंधड़ उठता दिखाई देता है, हमें सहज ही प्रताप याद आते हैं, याद आता है उनका शौर्य एवं याद आती है आजादी की रक्षा हेतु सर्वस्व न्यौछावर करने की उनकी प्रस्तुति।

देश-विदेश के इतिहासविदों ने प्रताप के शौर्य, त्याग एवं आदर्श की प्रशंसा तो भरपूर की है किन्तु उनकी कूटनीति, दूरदृष्टि एवं प्रशासकीय कुशलता के गुणों को प्रायः अनदेखा ही किया है। वास्तव में तो इन्हीं गुणों के कारण अत्यंत छोटे से राज्य के स्वामी होते हुए भी प्रताप ने अकबर जैसे महाबली शासक के विरुद्ध सामरिक एवं कूटनीतिक विजय प्राप्त की। कठिनतम काल में भी अपने साथियों एवं सैनिकों का मनोबल बनाये रखा एवं अपने अधिकार में आए भू-भाग में प्रशासकीय व्यवस्था कभी शिथिल नहीं होने दी। प्रताप ने अजेय दिखने वाले अकबर को हल्दीघाटी के युद्ध में खुली चुनौती देकर संपूर्ण जनता का शौर्य जगाया और तत्पश्चात व्यवहार के धरातल पर गुरिल्ला पद्धति अपनाकर विजय पर विजय प्राप्त करते हुए अपने जीवन काल में मांडलगढ़ एवं चित्तौड़ छोड़कर समस्त मेवाड़ पर पुनः विजय प्राप्त की जो कि मुगलों के अधिकार में जा चुके थे। इसी कूटनीति के चलते अकबर की राजपूतों सम्बन्धी कूटनीति पूर्णतः असफल हो गयी एवं प्रताप मुगल विरोधी संघर्ष को 'विदेशी दासता के विरुद्ध संघर्ष' का स्वरूप देने में पूर्णतः सफल हुए। इसी नीति के कारण उन्हें हकीम खां सूर एवं जालोर के ताजखां का पूर्ण सहयोग मिला। हकीम खां सूर ने तो हल्दीघाटी के युद्ध में सेना की आधी कमान संभाली थी। धीरे-धीरे मुगल अत्याचारों की विरोधी सभी ताकतें प्रताप की सहयोगी बनी जिसमें सिरोही, ईडर, जोधपुर एवं डूंगरपुर जैसी शक्तियाँ भी थीं।

प्रताप का जन्म ज्येष्ठ शुक्ल ३ विक्रम संवत् १५८७ (१५४० ई.) को हुआ। पिता उदयसिंह की मृत्यु के पश्चात् यद्यपि बड़े होने के नाते राज्य के उत्तराधिकारी वही थे परन्तु परम्परा के विपरीत उदयसिंह छोटी रानी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी बना गये। मेवाड़ के वीर सरदारों को यह कतई पसंद नहीं आया क्योंकि यह समय मेवाड़ के लिए अत्यंत विकट था। अतः अपने भावी नेता के रूप में सभी की आशायें प्रताप पर ही केन्द्रित थीं। सभी सरदार प्रताप के व्यक्तित्व एवं वीरोचित कार्यों से प्रभावित थे अतः उन्होंने श्मशान में

ही प्रताप को गद्दी पर बैठाने का निश्चय कर गोगूँदा में २८ फरवरी १५७२ ई. को उनका राजतिलक कर जननेता के रूप में उन्हें सिंहासनाशीन किया एवं जगमाल को हाथ पकड़ कर गद्दी से उतार दिया।

प्रताप के लिए वास्तव में तो यह राजतिलक तीक्ष्ण कांटों का ही ताज था क्योंकि उनके पास वस्तुतः न तो कोई राज्य था, न सेना थी, न धन था। प्रबल शत्रु अकबर सिर पर था। राजस्थान के अधिकांश राजे-रजवाड़े अकबर की अधीनता स्वीकार कर चुके थे एवं मेवाड़ का भी अधिकांश मैदानी एवं उपजाऊ भाग मुगलों के अधीन था। अतः उपज के स्रोत भी बंद थे। जिस पर उदयसिंह ने जगमाल को उत्तराधिकारी घोषित कर गृह-कलह को और बढ़ा दिया था। परिणाम स्वरूप शक्ति सिंह, सगर एवं जगमाल जैसे भाई मेवाड़ राज्य से विमुख हो चले थे। मेवाड़ की इस अवस्था से प्रताप पहले ही चिंतित थे, राज्यारोहण के बाद तो उनकी चिंता और ज्यादा बढ़ गई परन्तु प्रताप ने इस कालचक्र को मोड़ देने का संकल्प कर अपने राज्याभिषेक समारोह में ही दृढ़ प्रतिज्ञा ली कि जब तक वे मेवाड़ को स्वाधीन न कर लेंगे, राजसी ठाठबाट से नहीं रहेंगे, सोने-चांदी के बर्तनों में नहीं खायेंगे एवं पलंग पर नहीं सोयेंगे। इसे उन्होंने अक्षरशः अपने आचरण में भी उतारा जिसका चमत्कारिक प्रभाव हुआ एवं सरदारों सहित सारी प्रजा मेवाड़ को पुनः स्वाधीन करने के प्रयत्न में प्राण पण से जुट गई।

इधर प्रताप कुशलता के साथ प्रशासन को चुस्त-दुरस्त करने में लगे, उधर अकबर जिसने देश का अधिकांश भाग अपने अधीन कर लिया था, मेवाड़ के बिना बेचैन था। मेवाड़ पर दो बड़े हमले पहले भी हो चुके थे। १५६७ ई. का तीसरा आक्रमण जिसे 'चित्तौड़ का तीसरा साका' कहा जाता है एवं जिसका नेतृत्व स्वयं अकबर ने किया था, रोंगटे खड़े कर देने वाला था। राजा उदयसिंह तो डर कर जंगलों में भाग गया पर वीर सरदारों एवं राजपूतों ने अद्भुत युद्ध किया, क्षत्राणियों ने भी युद्ध कर जौहर किया। अकबर के हाथ लगी केवल राख से पटी भूमि एवं मुंड। खीजकर अकबर ने विजय के बाद तीस हजार साधारण नागरिकों का कत्लेआम करा दिया ताकि लोग अकबर से टकराने का अर्थ समझ लें। इतिहास का पन्ना-पन्ना इस नृशंसता का गवाह है। इतने पर भी मेवाड़ ने सिर नहीं झुकाया अतः अकबर ने कूटनीति का सहारा लिया।

प्रताप के राज्यारोहण के थोड़े ही समय बाद अकबर ने नवम्बर १५७२ ई. में संधि प्रस्ताव लेकर जलाल खां कोरची को भेजा। बाद में जून १५७३ ई. में कुंवर मानसिंह कछवाहा, फिर मानसिंह के पिता भगवंतदास एवं चौथी बारी में राजा टोडरमल जैसे नीतिकुशल प्रतिनिधि प्रताप पर दबाव डालकर संधि करने हेतु उन्हें विवश करने आये। मानसिंह एवं भगवंतदास

तो ससैन्य आये थे। परन्तु प्रताप ने सभी को बिना झगड़ा किए एवं बिना जाल में फंसे वापस लौटा दिया। यह प्रताप की अद्भुत कूटनीतिक चतुराई थी। प्रताप जानते थे कि अंत में युद्ध अपरिहार्य है पर वे तैयारी के लिए थोड़ा समय चाहते थे और इसी तरह उन्होंने चार वर्ष बिता दिए। अन्त में हल्दीघाटी का आमने-सामने का युद्ध हुआ जिसका सेनापति मानसिंह को बनाया गया। अकबर भी तीर्थ यात्रा के बहाने अजमेर आकर बैठ गया।

१८ जून १५७६ ई. को हुए हल्दीघाटी के युद्ध में मुट्ठी भर राजपूतों ने विशाल मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिए। राजपूत वीरों ने इज्जत महंगी व जान सस्ती कर दी। प्रताप ने भी अपनी सुरक्षा की परवाह न करते हुए आगे बढ़कर मानसिंह पर सीधा आक्रमण कर दिया। मानसिंह दुबक कर बच गया पर प्रताप को शत्रु सैनिकों ने घेर लिया। इस स्थिति में झाला मान्ना ने प्रताप के राज-चिन्ह त्वरित गति से अपने सिर पर धारण कर शत्रुसेना को धोखे में डाल दिया एवं स्वयं का बलिदान कर दिया। प्रताप बचकर पहाड़ियों में चले गए। राणा के मारे जाने के भ्रम में युद्ध दोपहर तक ही स्थगित हो गया एवं बचे हुए राणा के सैनिक भी मारकाट करते-करते पहाड़ों में चले गए तथा युद्ध बिना किसी निर्णय के समाप्त हो गया। दोनों ही पक्षों ने अपनी-अपनी विजय का दावा किया। अधिकांश इतिहासकारों ने राणा को पराजित माना है, पर राजस्थान के मंदिरों में आज भी कई जगह ऐसे शिलालेख मिलते हैं जिनमें महाराणा का विजयी होना बताया है। फिर भी तात्कालिक एवं अल्पकालिक परिणाम जो भी हुए हों, इतना तो निश्चित है कि इस युद्ध के दूरगामी परिणाम प्रताप एवं मेवाड़ के पक्ष में ही गए। प्रताप ने मुगलों द्वारा जीते भू-भाग पर कब्जा करने का अभियान निरन्तर जारी रखा।

हल्दीघाटी युद्ध के परिणामों से खीजकर अकबर ने मानसिंह की प्रताड़ना की एवं स्वयं अक्टूबर १५७६ ई. में मेवाड़ अभियान पर निकला। उसने उदयपुर, बांसवाड़ा, डूंगरपुर, ईडर आदि पर अधिकार कर लिया एवं उदयपुर का नाम बदलकर मुहम्मदाबाद रख दिया। अकबर स्वयं तो मेवाड़ से मालवा एवं फिर अजमेर की ओर कूचकर गया पर अपनी सेना प्रताप के विरुद्ध लगाये रखी क्योंकि वह मेवाड़ को अपनी अधीनता में लाने को किसी प्रकार भी भुला नहीं पा रहा था। १५ अक्टूबर १५७७ ई. को उसने मेवाड़ पर आक्रमण हेतु बड़ी सेना देकर शाहबाज खान को भेजा जिसने राजधानी कुंभलगढ़ को जीत लिया एवं बड़ी तबाही मचाई। इधर प्रताप के पास प्रचुर अर्थाभाव हो चला था एवं दु:खी होकर उन्होंने मेवाड़ त्यागने का मन बना लिया पर सौभाग्य से इसी समय भामाशाह ने बहुत बड़ी धनराशि उन्हें भेंट दी एवं स्वतंत्रता युद्ध को जारी रखने की प्रार्थना की। प्रताप पुन: सक्रिय होकर सेना संगठन में लग गए एवं नवम्बर १५७८ ई. में दिवेर गाँव के बड़े मुगलथाने पर आक्रमण किया। इसमें

भामाशाह एवं प्रताप का ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह भी साथ था। अकबर का चाचा सुल्तान खां यहाँ नियुक्त था, उसने भी निकट के सभी शाही थानों के अधिकारियों को अपनी सहायता हेतु बुला लिया। इस बार मेवाड़ एवं मुगल सैनिकों के बीच घमासान किन्तु निर्णायक युद्ध हुआ एवं सुल्तान खां अमरसिंह के हाथों एक ही भाले के वार से घोड़े सहित मारा गया। मुगल सैनिक भाग गए एवं प्रताप की निर्णायक विजय हुई। इस विजय के साथ ही एक प्रकार से मेवाड़ का मुक्ति संग्राम पुनः आरंभ हो गया। इस विजय ने प्रताप एवं उनकी सेना का मनोबल बढ़ाया एवं भावी विजयों का मार्ग प्रशस्त किया। जन सामान्य की भी आस्था पुनः प्रबल हुई।

प्रताप के दिवेर विजय के समाचारों से क्रुद्ध होकर अकबर ने १५ दिसम्बर १५७८ ई. को शाहबाज खां को दूसरी बार मेवाड़ भेजा पर वह असफल रहा तो पुनः नवम्बर १५७९ ई. में तीसरी बार बड़ी सेना देकर भेजा किन्तु हार थक कर शाहबाज खां जून १५८० ई. में लौट गया। इस पर भी अकबर को चैन नहीं था। उसने इस वर्ष के अन्त में अब्दुल रहीम खानखाना को मेवाड़ अभियान में लगाया पर अमरसिंह ने उसके स्त्री बच्चों को ही बन्दी बना लिया जिसे प्रताप ने सम्मान सहित खानखाना के पास लौटा दिया। शर्मिंदा होकर खानखाना १५८१ ई. में लौट गया एवं १५८४ ई. के नवम्बर तक यह अभियान स्थगित रहा। ५ दिसम्बर १५८४ ई. को एक बार फिर जगन्नाथ कछवाहा के नेतृत्व में प्रताप की राजधानी चावंड पर असफल आक्रमण हुआ और कुछ दिन भटकने के बाद जगन्नाथ कछवाहा हताश होकर लौट आया। इसके साथ ही मेवाड़ पर मंडराता सैनिक संकट प्रायः समाप्त हो गया एवं अल्पकाल में ही १५८६ ई. के अन्त तक मांडलगढ़ एवं चित्तौड़ को छोड़कर समस्त मेवाड़ पर प्रताप का पुनः अधिकार हो गया एवं शाही थाने उठ गए।

इतने दिनों के युद्ध में मेवाड़ उजाड़ हो चला था अतः अब प्रताप युद्धस्तर पर मेवाड़ के पुनर्निर्माण में लग गए। चावंड की राजधानी को मजबूत बनाया गया एवं साहित्य, कला तथा शिल्प को सब तरफ बढ़ावा दिया गया। मेवाड़ के लोगों ने बहुत वर्षों बाद स्वराज्य का सुख अनुभव किया। यह प्रगति आगे ग्यारह वर्ष तक प्रताप की माघ शुक्ल ११, १६५३ वि. (१९ जनवरी १५९७ ई.) को असामयिक मृत्यु तक निरन्तर चलती रही। अकबर सारे प्रयत्न करके भी प्रताप को झुका नहीं पाया। इस प्रयत्न में प्रताप को जो सफलता मिली वह उनके जीवन का कम चर्चित किन्तु परम प्रशंसनीय पक्ष है। प्रताप युद्ध एवं शान्ति दोनों में ही सच्चे नेता थे। इस पर और भी शोध की आवश्यकता है। दुरसा आढ़ा के शब्दों में–

अकबरियो इक बार दागल की सारी मही,
अणदागल असवार, एकज राण प्रताप सी।

(अर्थात् अकबर ने एक काल खंड में सारे देश के घोड़ों पर अपनी अधीनता का निशान दाग दिया पर प्रताप के घोड़े बिना दाग किए हुए ही रहे।)

प्रताप का जीवन चरित्र आज भी हमारे पूरे देश के लिए अत्यंत सामयिक महत्व का है। विपरीत परिस्थितियों में प्रताप ने जिस चतुराई, कौशल और दृढ़ता के साथ शासन व्यवस्था करते हुए मेवाड़ के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखा एवं अपने त्याग तथा तपस्या के बल पर प्रजाजनों को देशभक्ति में दीक्षित किया उसे आज समझने एवं करने की आवश्यकता है। शत्रु-मित्र के सम्बन्ध में प्रताप की दृष्टि अत्यंत स्पष्ट थी तभी तो वे पठानों का भी सहयोग ले पाए एवं हिन्दुआ सूरज भी कहलाए। आज दृष्टि का विभ्रम ही सारे देश को गुमराह कर रहा है। हमें अपने इतिहास से सबक लेने की आवश्यकता है।

महान् पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी ने अपने लेख में 'प्रताप' के बारे में इन शब्दों में श्रद्धांजलि दी है ह

"प्रताप! हमारे देश का प्रताप! हमारी जाति का प्रताप! दृढ़ता और उदारता का प्रताप! तू नहीं केवल तेरा यश और कीर्ति है। जब तक यह देश है और जब तक संसार में दृढ़ता, उदारता, स्वतंत्रता और तपस्या का आदर है, तब तक हम क्षुद्र प्राणी ही नहीं, सारा संसार तुझे आदर की दृष्टि से देखेगा। संसार के किसी भी देश में तू होता तो तेरी पूजा होती और तेरे नाम पर लोग अपने को न्यौछावर करते। अमेरिका में होता तो वाशिंगटन और अब्राहम लिंकन से किसी तरह तेरी पूजा कम न होती। इंग्लैण्ड में होता तो वेलिंग्टन और नेल्सन को तेरे सामने सिर झुकाना पड़ता। स्काटलैंड में वालेस और राबर्ट तेरे साथी होते। फ्रांस में जोन ऑफ आर्क तेरे टक्कर की गिनी जाती और इटली तुझे मेजिनी के मुकाबले में रखती। लेकिन हा! हम निर्बल भारतीय आत्माओं के पास है ही क्या जिससे हम तेरी पूजा करें और तेरे नाम की पवित्रता का अनुभव करें ?" ....ऐसे प्रताप को हमारा शत-शत प्रणाम। ●

स्वामी विवेकानन्द की १५०वीं जन्म जयन्ती पर विशेष

जरूरत है स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन और प्राथमिकताओं को समझने की

आगामी वर्ष स्वामी विवेकानन्द के जन्म के १५० वर्ष पूर्ण होंगे अत: उसे व्यापक स्तर पर मनाने की योजनायें राष्ट्रीय स्तर पर बनाई जा रही है। यह एक अच्छा अवसर होगा स्वामीजी की स्मृति के माध्यम से अपने देश की दिशा और दशा का आकलन करते हुए भविष्य की रीति-नीति पर चिन्तन करने का क्योंकि स्वामीजी के नाम का स्मरण आज भी हमारी रगों में, मन एवं मस्तिष्क में तेजी, ताजगी एवं गौरवभाव का संचार कर उनके प्रति हमें नतमस्तक कर देता है। उन्होंने चहुँ ओर से आक्रान्त सनातन हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की पताका को जिस गौरव से विश्व धर्म-सम्मेलन के मंच पर अमेरिका में पुन: प्रतिष्ठित किया उसके कारण आज भी हम उन्हें 'योद्धा-सन्यासी' के रूप में याद करते हैं। वे विशेष याद इसलिए भी आते हैं कि आज भी वह विश्ववारा संस्कृति शासन से तो प्रताड़ित है ही, अपनों की उदासी के कारण भी तिरस्कृत है।

स्वामीजी का जन्म कोलकाता में, जो उस समय अंग्रेजी राज्य की राजधानी थी, १८६३ ई. की १२ जनवरी को मकर संक्रान्ति के पावन दिन हुआ। १८५७ ई. के स्वतन्त्रता संग्राम को, जिसे अंग्रेजों ने नृशंसतापूर्वक कुचल दिया था, अभी ७ वर्ष ही बीते थे। अंग्रेजों ने पूरे देश में भय के साथ-साथ तेजी से ईसाईकरण का अभियान भी चला रखा था जिसमें जाने-अनजाने कतिपय भारतीय 'समाज-सुधारक' भी परोक्ष सहयोगी बन गए थे जो हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज को पश्चिमी यानि ईसाई मिशनरी दृष्टि से देखकर हिन्दू समाज में कालक्रम में घुस आई सामाजिक रूढ़ियों की बढ़-चढ़कर चर्चा करते हुए अपनी सस्कृति एवं धर्म के प्रति हीन भावना उत्पन्न करके अन्ततोगत्वा ईसाई मिशनरियों के कार्य को सुगम बना देते थे।

स्वामीजी का जन्म नाम 'नरेन्द्र' था। वे अत्यंत मेधावी युवक थे। ईश्वर को देखने की धुन में रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आकर मां (काली मां एवं भारत मां) के कार्य के लिए संन्यास की दीक्षा लेकर पूर्ण समर्पित हो गए। उनका संन्यास नाम 'विविदिशानन्द' हुआ जो आगे चलकर राजस्थान के खेतड़ी नरेश अजीत सिंह के अनुरोध पर 'विवेकानन्द'

हुआ। स्वामी रामकृष्ण देव के परलोक गमन के उपरान्त १८८६ में ये हिन्दू समाज को निकट से देखने, समझने हेतु पूरे भारत का पैदल परिभ्रमण करने हेतु निकले। इस यात्रा से उनका यह विचार दृढ़ बना कि हिन्दू समाज में व्याप्त छुआछूत, बालविवाह एवं पर्दा प्रथा जैसी सामाजिक रूढ़ियां परकीय आक्रमण एवं दासता का ही परिणाम है, हमारी धर्म-संस्कृति की उपज नहीं। अतः कालक्रम में जमी इस धूल को भारत स्वाभिमान से खड़ा होकर, झटक कर अनायास ही अलग कर सकता है। उन्होंने जोर देकर कहा कि हिन्दुत्व को तो केवल अपनी मूर्च्छना हटाकर फेंकनी है जो शताब्दियों की पराधीनता का फल है। वे कहते थे कि हम सच्चे हिन्दू बनें, हिन्दू होने का गर्व करें एवं प्रत्येक हिन्दू के कष्ट को अपना कष्ट मानकर सनातन, सहिष्णु एवं परदुःख कातर इस समाज को बलशाली बनायें ताकि उत्पीड़न में उलझे विश्व को वह प्रबोधन मिल सके जिसकी वह आज प्रतीक्षा में है।

भारत भ्रमण के दौरान विभिन्न प्रकार के मतों के लोगों से एवं समाज के तथाकथित सुधारकों से वे मिले एवं गहन वार्तालाप के उपरान्त स्वामीजी का यह मत बना कि भारत के लिए आज सर्वप्रथम और सर्वाधिक आवश्यकता यह है कि वह अपनी संस्कृति, विरासत और अपने धर्म पर, अपने अतीत और अपने पूर्वजों पर आत्मगौरव एवं श्रद्धा का भाव जगाते हुए आज की आत्महीनता की अवस्था से बाहर निकले क्योंकि भारत के सुदीर्घ इतिहास में मानवीय गौरव एवं कल्याण तथा उत्थान के पृष्ठ भरे पड़े हैं। ऊपर-ऊपर नजर आने वाली विसंगतियां हमारी प्रकृति नहीं, विकृति है, मूर्च्छना है जिसे पहचान कर झटक देना है। यही उनके भारत निर्माण के उपक्रम का चिन्तन था, यही उनकी वरीयता थी।

लेकिन स्वामी जी यह भी जानते थे कि यह कार्य सरल नहीं है। इस हेतु जिस परम्परा से उन्हें मुठभेड़ करना है वह बहुत शक्तिशाली एवं सुसंगठित है और इससे भी अधिक चिन्ता का विषय यह है कि अपने ही समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अपने देश, समाज एवं संस्कृति के प्रति निषेधात्मक प्रवृति रखते हैं और स्वार्थी तथा भयभीत भी हैं। ऐसे लोग अपने धर्म एवं संस्कृति को ईसाई मिशनरी एवं मुस्लिम दृष्टि से देखने के अभ्यस्त हो चले हैं। उदाहरण हेतु बंगाल का ब्रह्मसमाज तो एक तरह से ईसाई धर्म का भारतीय रूपान्तर ही बना हुआ था।

स्वामी जी इस चक्रव्यूह को भेदना चाहते थे और संयोग से वह मौका उन्हें १८९३ के अमेरिका के शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन ने उपलब्ध कराया जहां उनकी धरती पर उनकी मांद में पहुँचकर अपने गुरुदेव की कृपा एवं अपने प्रथम दिन के ही अद्भुत उद्बोधन के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की विजय-पताका फहरा दी। इसके बाद वहाँ उनके और भी अनेक भाषण हुए जिनके कारण वहाँ के लोगों को भारत जैसे धर्म शिरोमणि देश में ईसाई धर्म प्रचारक भेजने की व्यर्थता समझ में आ गई। वहाँ से यश प्राप्त कर वे इंगलैण्ड एवं अन्य

यूरोपीय देशों में भी गए जहाँ बहुत लोगों ने भारतीय सनातन हिन्दू धर्म एवं वेदान्त दर्शन की श्रेष्ठता को स्वीकारा जिसके फलस्वरूप उन्हें गोरी चमड़ी वाले शिष्य भी मिले। निवेदिता का नाम तो हम सभी जानते ही हैं। यद्यपि भारत में कार्यरत पादरियों ने प्रबल रूप से उनका विरोध अपने-अपने देशों में किया एवं मारने तक के प्रयत्न हुए पर वे सफल नहीं हुए।

स्वाभाविक ही इस धर्म सम्मेलन से निकली यश की लहरों का प्रभाव भारत पर भी गहरा पड़ा एवं भारत के नवयुवकों में हिन्दू धर्म के प्रति पुनः स्वाभिमान एवं देश को दासता से मुक्त कराने की तीव्र प्रेरणा जाग्रत हुई। पादरियों के धर्मान्तरण अभियान को भी गहरा धक्का लगा। स्वामीजी १८९८ में स्वदेश लौट आये जहाँ उनका अप्रत्याशित स्वागत हुआ। इसी वर्ष उन्होंने बेलूरमठ की भी स्थापना की।

दूसरे वर्ष ही पुनः एक वर्ष के लिए वे विदेश यात्रा पर गए जिसमें वेदान्त के प्रचार-प्रसार का सुनहरा सुअवसर मिला। १९०० ई. के अन्त तक वे पुनः भारत लौट आये। स्वामीजी के इस यज्ञ में योगदान हेतु स्थान-स्थान पर लोग भारी संख्या में जुट रहे थे पर दुर्भाग्य से ४ जुलाई १९०२ ई. को उनका देहान्त हो गया। वे अभी ४० के भी नहीं हुए थे। वेगवान रथ के पहिये फिर अचानक थम गए।

स्वामीजी की भविष्यवाणी के अनुसार अगले ५० वर्ष के पूर्व ही भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्ति तो मिल गई पर मुसलमानों के जिद से देश को खंडित होना पड़ा एवं देश के पूर्व एवं पश्चिम में एक-एक भाग अपने से सदा के लिए पराया हो गया। खण्डित भारत में यद्यपि हिन्दू बाहुल्य हुआ पर देश के राजनैतिक नेतृत्व की निहित स्वार्थवाली तुष्टीकरण की नीति के चलते संविधान में हिन्दू संस्कृति के बहिष्कार एवं अल्पसंख्यकों के नाते मुस्लिम-ईसाई संरक्षण का प्रावधान होकर वही पुरानी स्थिति का नया अध्याय चालू हुआ जो क्रमशः घनीभूत होता जा रहा है और विश्व का सबसे उदार धर्म 'हिन्दू' अब अपने ही देश में 'साम्प्रदायिक' कहलाने को अभिशप्त होकर रह गया है। कैसी विडम्बना है यह!

विवेकानन्द की १५० वीं जन्मशती में यदि देशवासी इस पर गहन चिन्तन कर मानव सभ्यता के इस श्रेष्ठतम दर्शन एवं धर्म को अपना वाजिब हक कैसे पुनः दिलाया जाए, इसका मार्ग तलाशने में लगेंगे तो निश्चय ही स्वामीजी की आत्मा को गहरी शान्ति एवं सन्तोष मिलेगा क्योंकि स्वामीजी के सारे प्रयास की यही प्राथमिकता थी। ●

जन्मशती पर पुण्यस्मरण

हिन्दू संस्कृति एवं संगठन के आलोक पुरुष 'श्री गुरुजी'

बीसवीं सदी में जिन महापुरुषों ने हमारे देशवासियों के जीवन को अपने ज्ञान, तप और संगठन-कौशल से गहराई तक प्रभावित किया, उनमें श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर उर्फ 'श्री गुरुजी' का नाम अग्रगण्य है। आदि शंकराचार्य, महर्षि दयानन्द एवं स्वामी विवेकानन्द मानो एक ही शरीर धारण कर अवतरित हुए हों, ऐसा त्रिवेणी संगम था उनका व्यक्तित्व एवं इतिहास के एक अत्यन्त कठिन एवं चुनौतीपूर्ण समय में हिन्दुओं को आत्मविस्मृति, आत्मग्लानि तथा रुढ़ियों के स्वनिर्मित मायापाश से निकाल कर स्वधर्म के प्रति आत्म-गौरव भाव से परिपूर्ण कर एक संगठित शक्ति के रूप में खड़ा करना ही था उनके जीवन का एकमेव कार्य, जिसे उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक जिस निष्ठा, धैर्य एवं साहस से निभाया वह आने वाले कालखण्ड में भी हमारे लिए दीपस्तम्भ का कार्य करेगा।

'गुरुजी' यह नाम उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके छात्रों ने आदर से दिया था जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पढ़ाया करते थे और तब से यही नाम बाहर के समाज में भी चल पड़ा। इनका जन्म १९०६ ई. की १९ फरवरी (फाल्गुन कृ. ११, १९६२ विक्रमी) को नागपुर में सदाशिवराव एवं लक्ष्मीबाई के एक अत्यन्त साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। जन्म नाम माधव रखा गया। घर में अच्छा सात्विक एवं धार्मिक वातावरण था, अत: बचपन से ही इन पर इन संस्कारों की छाप पड़ी। नागपुर में इन्टर तक की पढ़ाई करने के बाद १९२४ ई. में बी.एस-सी. की पढ़ाई हेतु ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय चले गए जहाँ के विशाल ग्रन्थालय में स्वामी विवेकानन्द एवं अध्यात्म विद्या सम्बन्धी विविध ग्रन्थों को पढ़कर इनकी रुचि अध्यात्म की ओर बढ़ने लगी।

१९२८ ई. में एम.एस-सी. में ये सर्वप्रथम रहे। इसके बाद रसायन शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान हेतु मद्रास गए पर पिताजी की सेवा निवृति के कारण उत्पन्न आर्थिक परिस्थिति के दबाव में अनुसन्धान कार्य बीच में ही छोड़कर १९२९ ई. में पुन: नागपुर आकर कॉलेज में प्राध्यापक बन गए। इसी समय इनका सम्बन्ध नागपुर के रामकृष्ण आश्रम से हुआ जिससे इनकी अध्यात्म में रुचि गहरी होती गई। मई १९३० ई. में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राणीशास्त्र विभाग में इनकी नियुक्ति हुई एवं यहीं १९३१ ई. में इनका सम्बन्ध राष्ट्रीय स्वयंसेवक

संघ के कार्य से आया। गुरुजी के गुणों की चर्चा संघ संस्थापक डॉ. हेडगेवार ने भी सुनी तो उन्हें निमन्त्रित कर मिलने बुलाया। इस वार्ता का गुरुजी पर बहुत प्रभाव पड़ा। १९३३ ई. में ये पुनः नागपुर आ गए एवं वकालत करने के विचार से एल-एल.बी. पास की। नागपुर रहते हुए रामकृष्ण आश्रम से पुनः सम्बन्ध प्रगाढ़ हुए। इस समय ये कर्मक्षेत्र के तिराहे पर खड़े थे। एक तरफ रामकृष्ण मिशन और संन्यास जीवन, दूसरी तरफ संघ कार्य और हिन्दू संगठन तथा तीसरी तरफ वकालत एवं गृहस्थ जीवन। गुरुजी अपने माता-पिता की नौ सन्तानों में से अकेले ही जीवित थे, बाकी सब अल्पजीवी रहे अतः इनके माता-पिता की आशा का सहज ही अन्दाज लगाया जा सकता है।

किन्तु इन सबके बीच अध्यात्म भाव ने उछाल मारी और घर में बिना किसी को बताए १९३६ ई. की दीवाली के पूर्व ये रामकृष्ण मिशन के अध्यक्ष स्वामी अखण्डानन्दजी के पास सारगाछी आश्रम (बंगाल) में दीक्षा लेने चले गए। थोड़े ही समय बाद १३ जनवरी १९३७ ई. को मकरसंक्रमण के दिन इनकी दीक्षा भी हो गई पर प्रभु को तो इनसे कोई अन्य कार्य ही कराना था। संयोग से ७ फरवरी को ही स्वामी अखण्डानन्दजी का महानिर्वाण हो गया इससे गुरुजी को भारी आघात लगा एवं मार्च के अन्त में ये पुनः नागपुर लौट आये। यहाँ आकर इनका संघ एवं डॉक्टर हेडगेवार से सम्पर्क दृढ़ से दृढ़तर होता गया एवं देश में बहुसंख्यक होते हुए भी हिन्दू समाज की दुर्दशा एवं परकीय गुलामी की पीड़ा इनके मन में बेचैनी उत्पन्न करने लगी तो गृहस्थी बसाने का कार्य पीछे छूट गया और इन्होंने डॉक्टर हेडगेवार के आह्वान पर अपने आपको पूर्णतः हिन्दू संगठन के कार्य में नियोजित कर दिया। १९३८ ई. में ये सरकार्यवाह नियुक्त हुए एवं संघ कार्य विस्तार हेतु कलकत्ता आए परन्तु १९४० ई. में डॉक्टर जी की अस्वस्थता के कारण ये पुनः नागपुर चले गए एवं २१ जून को डॉक्टरजी के निर्वाण के बाद उनके स्थान पर सरसंघचालक का सर्वोच्च दायित्व सँभाला जिसे ५ जून १९७३ ई. तक अपने जीवन की आखिरी घड़ी तक निभाते हुए जीवन का क्षण-क्षण एवं रक्त का कण-कण समर्पित कर आसेतु हिमाचल लाखों समर्पित एवं ध्येयनिष्ठ युवक कार्यकर्ताओं की देव-दुर्लभ मालिका खड़ी की।

दीक्षा लेने के बाद स्वामी अखण्डानन्दजी ने गुरुजी की दाढ़ी देखकर एक दिन कहा- 'यह तुम्हें बहुत अच्छी लगती है, इसे बनाये रखना।' इस कारण गुरुजी ने आजीवन दाढ़ी रखी एवं दीक्षा में जो कमण्डलु स्वामीजी ने दिया था वह भी प्रतीक स्वरूप सदैव अपने साथ रखा। सामान्यतः सन्यासी केवल आत्मा-परमात्मा और मुक्ति की ही बात करते हैं, पर गुरुजी ने सदैव भारतमाता और गौमाता के रक्षण की बात पर जोर दिया। प्रतिदिन भारतमाता की जयकार करते हुए प्रार्थना करना उनके दैनन्दिन जीवन का आवश्यक अंग था। सत्य तो यह है कि अपनी देह में वे सदा इस धरती का स्पन्दन महसूस करते थे एवं चीन द्वारा भारत पर सीधी सैनिक कार्यवाही किए जाने के बहुत समय पूर्व ही अपने सिर में बार-बार दर्द होने

की बात कह कर उन्होंने हिमालय पर चीनी अतिक्रमण की महत्वपूर्ण सूचना देशवासियों को दी थी, जिस पर दुर्भाग्य से सरकार ने ध्यान नहीं दिया।

विभाजन के पूर्व देश भर में भ्रमण कर श्री गुरुजी विभाजन के विरुद्ध उठ कर खड़े रहने हेतु हिन्दू जनता का आह्वान करते रहे परन्तु जब कांग्रेसी नेताओं ने विभाजन स्वीकार कर ही लिया तो जो भू-भाग पाकिस्तान का हिस्सा बन गया वहाँ के हिन्दुओं को यथाशीघ्र एवं सुरक्षित भारत लाने में संघ ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। श्री गुरुजी ने प्राण संकट में डाल कर भी वहाँ बार-बार प्रवास किया। गुरुजी ने देश विभाजन को अन्तिम सत्य कभी भी स्वीकार नहीं किया एवं मातृभूमि की खण्डित प्रतिमा को पुनः अखंड बनाने का स्वप्न प्रत्येक देशवासी के मन में पल्लवित होता रहे यही उनकी तीव्र आकांक्षा थी। वैसे ही गोवंश की अवध्यता के लिए चलाये आन्दोलन को उन्होंने पूरा-पूरा समर्थन दिया एवं ७ दिसम्बर १९५२ ई. को उसके समर्थन में १.७५ करोड़ वयस्क नागरिकों के हस्ताक्षरों का माँगपत्र स्वयं तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी को समर्पित किया।

श्री गुरुजी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की नित्य प्रति की शाखाओं के माध्यम से तो हिन्दू संगठन का कार्य खड़ा किया ही, समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में भी हिन्दू विचारों की स्थापना हेतु विश्व हिन्दू परिषद, वनवासी कल्याण आश्रम, भारतीय मजदूर संघ, विद्यार्थी परिषद, शिक्षक संघ, राष्ट्र सेविका समिति, संस्कार भारती जैसे दर्जनों संगठनों के निर्माण हेतु कार्यकर्त्ताओं का दिशा-निर्देश किया एवं राजनीति जैसे क्षेत्र में भी डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को जनसंघ निर्माण हेतु कार्यकर्त्ता सौंपे किन्तु स्वयं कभी प्रत्यक्ष राजनीति से सम्पर्क नहीं रखा। एक समय शंकराचार्य का पद स्वीकार करने के आग्रह को भी उन्होंने विनम्रता से ठुकरा दिया एवं डॉ. हेडगेवार जी द्वारा सौंपे गए हिन्दू संगठन के कार्य में ही आजीवन लगे रहे। राजनैतिक स्वार्थ के चलते तत्कालीन सरकार द्वारा महात्मा गाँधी के हत्याकांड जैसे जघन्य कांड से भी संघ को जोड़ने की साजिश कर संघ एवं गुरुजी दोनों को ही लांछित किया गया पर ऐसे गंभीरतम संकट एवं भीषणतम उत्तेजना के समय में भी स्वयं शान्त, धीर तथा अक्षुब्ध बने रहकर सम्पूर्ण संगठन को अनुशासित एवं शान्त बनाये रखने की जो सामर्थ्य श्री गुरुजी ने दिखाई एवं अन्ततः विजयी होकर, निष्कलंक होकर निकले वह इतिहास में विरल है।

डॉ. हेडगेवार जी ने हिन्दू संगठन की जो नींव रखी उस पर मजबूत भवन बनाने का कार्य श्री गुरुजी ने किया एवं यह उन्हीं के अथक परिश्रम का ही फल है कि हिन्दू चिन्तन एवं हिन्दू दर्शन के विरुद्ध नाना परकीय एवं स्वकीय षड़यन्त्रों की चुनौती झेल कर भी आज हिन्दू समाज मस्तक ऊँचा उठाकर बढ़ता जा रहा है। उनका कहना था कि हमारी विजय निश्चित है क्योंकि धर्म के साथ श्री भगवान और उनके साथ विजय रहती है। उनके आह्वान को मान कर हम सभी, कार्य पूर्ण होने तक विराम न लें, यही जन्मशती पर उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। ●

मौलिक चिंतक एवं कुशल संगठक
पं. दीनदयाल उपाध्याय

स्वतन्त्र्योत्तर भारत की राजनीति में पं० दीनदयाल उपाध्याय का नाम उनकी संगठन कुशलता, सादे-सरल रहन-सहन एवं आचार-विचार के अद्भुत साम्य के कारण तो स्मरणीय रहेगा ही, पर सर्वाधिक स्मरणीय रहेगा उनके भारतीय जीवन मूल्यों पर आधारित 'एकात्म मानववाद' के राजनैतिक-आर्थिक दर्शन के लिए, जिसे उन्होंने पश्चिमी अवधारणाओं पर आधारित पूंजीवादी एवं साम्यवादी एकांगी दर्शनों के सही विकल्प के रूप में प्रस्तुत कर, वादों की आपा-धापी के उत्ताल सागर में दीप-स्तम्भ का काम किया था।

पं० दीनदयालजी का मानना था कि कोई भी दर्शन तभी चिरंजीवी हो सकता है जब वह मानव का समग्रता से विचार करे। पूंजीवाद एवं साम्यवाद दोनों ने ही केवल 'आर्थिक-मानव' का विचार अपने सामने रखकर नीतियाँ निर्धारित की है। शरीर के लिए सुख एवं भोग के आगे उनकी दृष्टि जाती ही नहीं, अतः विशेष परिस्थितियों की उपज ये दर्शन एक सीमित अर्थ एवं सीमित समय तक ही सार्थक हो सकते हैं।

पूंजीवाद के कारण व्यक्ति के हाथ में सम्पदा का केन्द्रीयकरण हुआ तो उसमें शोषण भी पनपा। इसके विरोध में साम्यवाद खड़ा हुआ पर इसमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं काम करने की इच्छा ही नष्ट हो गई। इसी कारण आज यह दर्शन अपने मूल कर्म-स्थल से भी व्यर्थ सिद्ध होकर निष्कासित है। हां, पूंजीवाद अभी भी कायम है क्योंकि उसने अपने में थोड़ा सुधार करके शोषण को नियन्त्रित किया, परंतु पूंजीवादी देशों के वैभव सम्पन्न लोग भी आज सारी सम्पन्नता के बीच भी अपने को सुखी नहीं महसूस करते। सम्बन्धों की मिठास नष्ट हो गई है एवं आज तो उनका ढांचा ही लड़खड़ा रहा है, वे भी भयंकर मन्दी की चपेट में हाथ-पांव मार रहे हैं तथा परिवार नष्ट होने से समुद्र में अकेले लकड़ी के तख्ते की तरह अजानी दिशा में बहते हुए नजर आ रहे हैं।

ऐसे ही परिणाम का चिंतन कर पं० दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय जीवन दृष्टि एवं कर्म-मर्यादा पर आधारित 'एकात्म मानववाद' को, नए आर्थिक-राजनैतिक दर्शन के रूप में सबके सामने विचार के लिए रखा, विकल्प के रूप में रखा, जो मानव के शरीर, मन,

बुद्धि एवं आत्मा सभी के सुख का समग्रता से विचार करता हुआ पूंजीवाद एवं साम्यवाद के 'अर्थ एवं काम' के सीमित एवं एकांगी दर्शन की संकरी राह में 'धर्म और मोक्ष' के दो नए आयाम जोड़कर उसे पूर्ण सुख के राजमार्ग पर ले जाने में समर्थ है।

इस भारतीय दर्शन ने 'अर्थ एवं काम' को नकारा नहीं, बल्कि उसे केन्द्र में रखकर उसकी पूरी महत्ता स्वीकारी पर एक तरफ धर्म एवं दूसरी तरफ मोक्ष की दीवारों से उसे बांधा ताकि 'अर्थ और काम' उन्मत्त होकर विनाश का कारण न बने। यानी अर्थ एवं काम का सुख भोग धर्म के धरातल पर अधिष्ठित हो एवं हमें मुक्त करने वाला हो, बांधने वाला न हो। धर्म और मोक्ष रूपी नदी के दो तटों के बीच अर्थ और काम का प्रवाह नियंत्रित होकर लोक कल्याण करे। यही भारत का सनातन ऋषि चिंतन रहा है। इसी को पं० दीनदयालजी ने नए संदर्भ में दोहराया। इसके पीछे कई चिंतकों की शक्ति खड़ी होगी तो सारा विश्व इसकी ओर खिंचता चला आएगा क्योंकि यह एकांगी नहीं, जीवन की समग्रता का विचार करता है और पूर्ण वैज्ञानिक है।

हमारे देश की परिस्थितियों में तो यह नितांत आवश्यक है कि हमारा ध्यान अपनी परम्परा के अनुभूत ज्ञान की ओर जाये। दीनदयालजी का यह मानना था कि स्वराज्य तभी सार्थक सिद्ध होता है, जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बने। विदेशी जीवन तथा विचारों को आँख मूँद कर अपने देश पर लागू करना किसी भी तरह उपादेय नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक विचार एक विशेष परिस्थिति एवं प्रवृति की ऊपज होता है, सार्वकालिक एवं सार्वलौकिक नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे विदेशी ज्ञान-विज्ञान के विरूद्ध थे। वे कहते थे कि जस का तस तो हम अपनी बातों को लेकर भी नहीं चल सकते। अत: जो हमारा अपना है उसे युगानुकूलता एवं जो बाहर का है उसे देशानुकूलता के तराजू पर तोल कर ही लिया जाना चाहिए। सभी विषयों पर पं० दीनदयालजी के चिंतन का यही मौलिक सूत्र था और चिंतन की यह विशेष दृष्टि उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से मिली थी जिसके वे आजीवन समर्पित प्रचारक थे।

पं० दीनदयालजी का जन्म २५ सितम्बर १९१६ को हुआ। वे पढ़ाई में सदा प्रथम आते थे। बाल्यकाल में ही मां-बाप का साया उठ जाने के कारण वे अपने मामा के पास रहकर पढ़े एवं अभावों में जिये। १९३६ ई. में वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आये। संघ के हिन्दू संगठन एवं राष्ट्र की एकता तथा अखंडता के लिए समर्पित भाव से काम करने के विचारों एवं कार्य-पद्धति ने उन्हें गहराई से प्रभावित किया और वे १९४२ ई. में सब कुछ छोड़कर इस संगठन के पूर्णकालिक प्रचारक बन गए। परिवार आर्थिक संकट में होने एवं स्वयं अत्यंत मेधावी होने कारण परिवार को संवार लेने की सामर्थ्य होने पर भी देश की विषम

परिस्थिति एवं उसमें हिन्दू संगठन की अपरिहार्यता को समझ कर उन्होंने परिवार एवं 'केरियर' का विचार अपने मन से सदा-सदा के लिए निकाल दिया और संघ के आदर्शों को मूर्त रूप देने हेतु अथक परिश्रम करते हुए ध्येयनिष्ठ कार्यकर्त्ताओं की मालिका खड़ी की एवं इन्हीं आदर्शों के प्रचारार्थ लखनऊ में 'राष्ट्रधर्म प्रकाशन' की भी नींव डाली जहां से 'राष्ट्रधर्म' मासिक, 'पांचजन्य' साप्ताहिक एवं 'स्वदेश' दैनिक का प्रकाशन प्रारंभ किया। कम्पोजिंग से लेकर सम्पादक तक के सारे कार्य, जैसी जरूरत होती, वे स्वयं करने में कभी संकोच नहीं करते।

संघ की एवं इसके विचारों की बढ़ती लोकप्रियता को कांग्रेस अपने दल के लिए चुनौती मानकर इसे रोकने के लिए व्यग्र हो उठी। संयोग से नाथूराम गोडसे नामक किसी हिन्दू कार्यकर्त्ता द्वारा महात्मा गांधी की मुस्लिम तुष्टीकरण की अतिवादी नीति से क्रुद्ध होकर ३० जनवरी १९४८ ई. को उनकी हत्या कर देने के जघन्य कार्य को बहाना बनाकर इसका झूठा आरोप संघ के माथे पर मढ़ते हुए भारत की नई कांग्रेस सरकार ने संघ पर प्रतिबंध लगा दिया। इस अन्याय का प्रतिकार करने हेतु देश भर में सत्याग्रह करके जेल भरने का निर्णय हुआ। उत्तर प्रदेश में इस कार्य का पूरा दायित्व पं० दीनदयालजी ने सम्हाला एवं ऐसा प्रचंड सत्याग्रह हुआ कि अंततः सरकार को संघ पर से प्रतिबंध हटाना पड़ा।

१९५१ ई. में जब डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने, जो केन्द्रीय सरकार में मंत्री थे, कांग्रेस की मुस्लिम तुष्टीकरण की नीतियों से हताश होकर केन्द्रीय सरकार से इस्तीफा देकर एक वैकल्पिक राष्ट्रवादी राजनैतिक दल की प्रतिष्ठा का निश्चय किया तो आदर्शवादी युवकों एवं संगठनकर्त्ताओं की आवश्यकता अनुभव कर वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी गोलवलकर के पास गए एवं संघ से कुछ सहयोगी देने की प्रार्थना की। श्री गुरुजी ने उनका निवेदन स्वीकार करते हुए पं० दीनदयाल उपाध्याय एवं सुन्दरसिंह भंडारी जैसे कुछ कार्यकर्त्ता जो उस समय संघ के पूर्णकालिक प्रचारक थे, डॉ० मुखर्जी को सहयोग देने हेतु सौंपे। डॉ० मुखर्जी दीनदयालजी के कार्य से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कहा कि मुझे दो और दीनदयाल मिल जाएँ तो मैं शीघ्र ही देश का नक्शा बदल सकता हूँ। उनके ये उद्‌गार सर्वथा सही थे क्योंकि जून १९५३ ई. में कश्मीर में डॉ० मुखर्जी का बलिदान होने के बाद १९६७ ई. तक लगातार १५ वर्षों तक जनसंघ के महामंत्री के रूप में अथक परिश्रम कर अत्यंत विकट परिस्थितियों में से मार्ग बनाते हुए दीनदयालजी ने उस वर्ष के निर्वाचन में जनसंघ को कांग्रेस के बाद सबसे बड़ा राजनैतिक दल बनाकर खड़ा करने में सफलता प्राप्त की। उस वर्ष के दिसम्बर माह में केरल प्रान्त के कालीकट में हुए विराट अधिवेशन में इन्हें जनसंघ का अध्यक्ष चुना गया। लगता है यही प्रसिद्धि उनकी अकाल मृत्यु का कारण बनी और ११ फरवरी १९६८ ई. को रेलयात्रा में किसी अज्ञात हत्यारे ने उनकी हत्या कर उन्हें सदा-सदा के लिए हमसे

छीन कर उनका शव मुगलसराय यार्ड में फेंक दिया। हत्या के रहस्य पर दुर्भाग्य से अभी भी पर्दा पड़ा हुआ है। पं० दीनदयालजी जैसे फकीरी में जीने वाले व्यक्ति की हत्या की राजनैतिक दुरभिसंधि के अलावा और कोई वजह हो ही नहीं सकती। उनका पार्थिव शरीर तो चला गया पर उनकी दी हुई दृष्टि सतत विद्यमान है एवं कोटि-कोटि भारतवासियों के हृदयों को निरंतर स्पन्दित करती है।

देश एवं समाज से सम्बंधित विषयों पर उनकी दृष्टि बड़ी स्पष्ट थी। वे इस देश को एक, अखंड एवं प्राचीन मानते थे अत: इसे 'यूनियन ऑफ स्टेट्स', 'नेशन इन मेकिंग' या 'नवोदित राष्ट्र' कहने में उन्हें घोर आपत्ति थी। इस देश को गंगा-जमुनी संस्कृतिवाला या अनेक संस्कृतियों वाला कहने वालों को भी वे ठीक नहीं मानते थे। वे कहते थे कि संस्कृति हमारी एक ही है। सम्प्रदाय या पंथ भिन्न-भिन्न होने से हमारी संस्कृति भिन्न नहीं हो जाती। गंगा-जमुना मिलकर बाद में गंगा ही कहलाती है, गंगा-जमुना नहीं। राष्ट्रीयता के लिए भी वे माता-पुत्र के जैसा सम्बंध ही कसौटी मानते थे। इससे इतर लोग या तो हमारे मेहमान हैं या फिर शत्रु। आज जब हमारा देश सुरक्षा की दृष्टि से भयंकर चुनौती झेल रहा है, हमारी मौलिक दृष्टि का परिष्कार होना अत्यन्त आवश्यक है। दीनदयालजी का चिन्तन इसमें हमारा मार्गदर्शक बन सकता है। उस युगपुरुष को कोटि-कोटि नमन। ●

१२५वीं जन्म जयन्ती पर विशेष

विलक्षण कर्मयोगी स्वातन्त्र्यवीर सावरकर

अपने युगान्तकारी विचारों और उनसे भी अधिक तेजस्वी कार्यों से सम्पूर्ण देश को ही नहीं, पूरे विश्व को विस्मित कर देने वाले, आजीवन एकमात्र 'स्वातन्त्र्य' देवी की ही आराधना करने वाले विलक्षण कर्मयोगी स्वातन्त्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर का जन्म आज से १२५ वर्ष पूर्व २८ मई १८८३ ई. को महाराष्ट्र के नासिक जिले के भगूर नामक ग्राम में चितपावन वंशीय ब्राह्मण दामोदरपन्त एवं राधाबाई के परिवार में हुआ। जिस प्रकार स्वराज्य का उदघोष करने वाले प्रथम मंत्रद्रष्टा लोकमान्य तिलक थे, उसी प्रकार 'स्वातन्त्र्य' का उद्घोष करने वाले प्रथम मंत्रद्रष्टा विनायक सावरकर थे। 'जयोस्तु ते श्री महन्मंगले स्वतन्त्रते भगवति...' यही उनका आराध्य गीत था, जिसे वे सम्पूर्ण शक्ति से आजीवन जपते रहे। पहले उसकी प्राप्ति के लिए एवं फिर उसकी रक्षा के लिए। अत्युच्च कोटि की देशभक्ति, शक्तिशाली लेखनी, अमोघ वाकशक्ति एवं उससे भी ऊपर उत्कृष्ट त्यागमय साहसिक कृति के कारण इन्हें 'प्रिंस आफ रिवोल्यूशनरीज' की संज्ञा दी गई। सचमुच ऐसा व्यक्तित्व सैकड़ों वर्षों में कभी-कभी ही अवतरित होता है।

पांचवी तक की प्रारंभिक शिक्षा इन्होंने अपने गाँव के विद्यालय में ही ली एवं बाद में नासिक जाकर दसवीं कक्षा पास की। १९०१ ई. में ही दसवीं कक्षा पास की और इसी वर्ष इनका विवाह हुआ। नासिक में पढ़ते समय ही इन्होंने अपनी उम्र के छात्रों की अच्छी-खासी मित्र मण्डली बना ली एवं उनमें देशभक्ति के भाव भरते रहे। इसी काल में वे देशभक्तिपूर्ण मराठी कवितायें भी लिखने लगे जो 'केशरी' आदि प्रसिद्ध पत्रों में प्रकाशित होने लगी। इन कविताओं की ओजस्विता से किशोरों की बाहें फड़कने लगती। इसी कालखंड में पूना में भयंकर प्लेग की बीमारी फैली। अंग्रेज अधिकारियों द्वारा इसके लिए उचित कदम न उठाये जाने के कारण सर्वत्र क्षोभ फैल रहा था जिससे सावरकर का बाल मन भी क्रोध से दग्ध हो उठा। चाफेकर बन्धुओं ने जान हथेली पर रखकर अंग्रेज प्लेग कमीश्नर की हत्या कर दी जिस पर दोनों चाफेकर बन्धुओं को फांसी दे दी गई। इससे देश भर में रोष फैला। सावरकर ने भी अपनी कुलदेवी दुर्गा की मूर्ति के सामने जाकर अंग्रेजों को भगाकर देश की स्वाधीनता के लिए सशस्त्र क्रांति का झंडा लेकर आजीवन जूझते रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा ली। इसकी पूर्ति

हेतु अपने सहपाठियों को एकत्र कर 'मित्र मेला' नामक संस्था बनाई एवं युवकों में क्रान्ति हेतु बीजारोपण प्रारंभ किया।

२२ जनवरी १९०१ ई. को महाराणी विक्टोरिया के देहावसान पर समस्त देश में शोक सभायें होने लगी। सावरकर ने इसका प्रतिवाद करते हुए कहा कि हमारे देश को गुलामी की बेड़ियों में जकड़कर रखने वालों की रानी की मृत्यु पर हम शोक क्यों मनायें ? इससे हम बाल्यकाल में ही सावरकर के प्रखर विचारों का अन्दाज लगा सकते हैं। इसी वर्ष मार्च में इनका विवाह भाउराव चिपलूणकर की ज्येष्ठ पुत्री यमुनाबाई उपाख्य 'माई' से सम्पन्न हुआ।

मार्च १९०१ ई. में मैट्रिक की परीक्षा पास करने के उपरान्त आगे की पढ़ाई हेतु १९०२ ई. में उन्होंने पूना के फर्ग्यूसन कॉलेज में प्रवेश लिया। वहां भी क्रान्तिकारी गतिविधियों के लिए छात्रों का एक दल गठित किया। लेखन क्रम भी जारी था। 'काल' के सम्पादक श्री शिवराम पंत परांजपे ने इन्हें लोकमान्य तिलक से मिला दिया। यह मणि-कांचन संयोग हुआ। अब सावरकर की लेखनी एवं वाणी दोनों ही और भी निखर कर प्रखर हो उठी। पूना में सावरकरजी ने १९०५-०६ में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार का आन्दोलन जोर-शोर से चलाया। सावरकर ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने २२ अगस्त १९०५ ई. को सार्वजनिक रूप से पूना में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। इन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया परन्तु बम्बई विश्वविद्यालय से विशेष अनुमति लेकर इन्होंने बी.ए. पास कर लिया। इसके बाद 'अभिनव भारत' नामक संस्था के माध्यम से युवकों में क्रान्तिकारी गतिविधियां तेज कर दी।

तिलकजी की इच्छा थी कि सावरकर इंग्लैण्ड जाकर आगे पढ़ाई भी करे एवं वहां के भारतीय प्रतिभाशाली युवकों में देशभक्ति के भाव जगाये। इंग्लैण्ड में पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा प्रतिभाशाली भारतीय छात्रों को छात्रवृत्ति देते थे। तिलकजी ने सावरकर के नाम की सिफारिश कर दी एवं सावरकर ९ जून १९०६ ई. को इंग्लैण्ड रवाना हो गए। लोकमान्य तिलक स्वयं उन्हें विदाई देने आए।

इंग्लैण्ड पहुंचकर सावरकरजी पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा संचालित 'इण्डिया हाउस' में ही ठहरे एवं उनके द्वारा चलाये जा रहे स्वाधीनता के प्रयत्नों में पूर्णरूप से सहभागी बन गए। सावरकर जी ने इंग्लैण्ड में 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की एवं श्यामजीकृष्ण वर्मा द्वारा प्रकाशित होने वाले 'वन्दे मातरम्' एवं 'इंडिया सोशियोलाजिस्ट' नामक पत्रों में क्रान्तिपूर्ण लेख लिखने लगे। देश-विदेश के ऐतिहासिक प्रसंगों को लोगों के सामने लाने हेतु इन्होंने इटली के महान देशभक्त 'मेझिनी' का जीवन चरित्र एवं 'सिक्खों का इतिहास' नामक दो पुस्तकें लिखी। १९०६ ई. में इण्डिया हाउस की ओर से '१८५७ के स्वातन्त्र्य समर' (जिसे अंग्रेज 'गदर' कहते थे) की स्वर्ण जयन्ती मनाने की घोषणा की एवं इस विषय

पर एक वृहद ग्रन्थ भी मराठी में लिखा जिसका अंग्रेजी सहित अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ। अंग्रेजों ने इसे प्रकाशन पूर्व ही जब्त कर लिया पर फ्रांस में यह छापा गया एवं इसे क्रान्तिकारियों ने गीता जैसा सम्मान दिया।

१९०८ ई. में १८५७ के स्वातन्त्र्य समर की अर्द्धशती का समारोह लंदन में धूमधाम से मनाया गया। भारतीय छात्र इसके प्रतीक चिन्ह छाती पर लगाकर गौरव से शहर की सड़कों पर घूमे। मदनलाल धींगरा भी उनमें से एक था। इसी ने भारत सम्बन्धी मामलों के मंत्री के सलाहकार कर्जन वायली को भरी सभा में गोलियों से भूनकर भारत में अंग्रेजों द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का विरोध किया। इधर भारत में भी अंग्रेज अफसरों का वध-यज्ञ आरंभ हो गया। अंग्रेज खुफिया पुलिस ने इन घटनाओं का सूत्रधार सावरकर को माना एवं उन्हें १३ मार्च १९१० ई. को गिरफ्तार कर भारत लाकर मुकदमा चलाने हेतु पानी के जहाज से रवाना कर दिया। बैरिस्ट्री का अध्ययन पूरा कर पूरे कागजात जमा देने के बाद भी इनकी डिग्री रोक ली गई। सावरकर चाहते थे कि मुकदमे की सुनवाई इंग्लैण्ड में ही हो पर सरकार मानी नहीं।

ऐसी विपरीत परिस्थितियों में भी सावरकर हार मानने वाले नहीं थे। उन्होंने मेडम कामा के साथ बातचीत करके अपनी मुक्ति की योजना तैयार की। वे जहाज के शौचालय के पाइप से मर्सिलिज बन्दरगाह के निकट समुद्र में कूद गए एवं तैर कर फ्रांस की भूमि पर आ गए। यहां मेडम कामा की उनसे मिलने की बात तय थी पर दुर्भाग्य से मेडम कामा को आने में थोड़ी देर हो गई और अंग्रेज सैनिकों ने पीछा कर उन्हें पुनः धर दबोचा। सावरकर के बार-बार कहने के बावजूद कि फ्रांस की भूमि पर इंग्लैण्ड के सिपाही उन्हें नहीं पकड़ सकते, फ्रांसीसी सिपाही अंग्रेजों के दबाव में आ गए एवं सावरकर को पकड़कर जहाज पर ले गए। सावरकर का यह अद्भुत साहस दुनिया के इतिहास में बेमिसाल है। मेडम कामा इत्यादि के प्रयत्न से इनका मुकदमा हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में चला पर फ्रांस की सरकार ने अंग्रेजों के दबाव में इसकी समुचित पैरवी नहीं की एवं फैसला अंग्रेजों के पक्ष में होने दिया। फ्रांस में इसकी प्रतिक्रिया इतनी जबरदस्त हुई कि फ्रांस के तत्कालीन प्रधानमंत्री को त्यागपत्र देकर हटना पड़ा। कितना अद्भुत था सावरकर का व्यक्तित्व एवं उनकी सूझ-बूझ।

इधर भारत लाकर अंग्रेजों ने दो भिन्न-भिन्न अभियोग लगाकर मुकदमों की नाटकबाजी की। एक था क्रांति के द्वारा अंग्रेजी राजसत्ता को उखाड़ना और दूसरा था अंग्रेज अधिकारियों की हत्या के लिए लोगों को उकसाना। दोनों में अलग-अलग आजीवन कारावास की सजा मिली यानि दो आजीवन करावास। सजा सुनकर सावरकर हँस पड़े। उन्होंने कहा कि दो आजीवन कारावास का दंड देकर अंग्रेजों ने हिन्दुओं के पुनर्जन्म की बात को सत्य मान लिया है। कहाँ उदाहरण मिलेगा ऐसी जिन्दादिली का।

अंडमान जेल में प्रवेश करते ही कुख्यात जेलर बारी ने उनसे प्रश्न किया कि आपको दो आजीवन कारावास यानि ५० वर्ष की जेल हुई है, क्या आप जीवित वापिस जाने की आशा करते हैं ? सावरकर ने उसी अंदाज में पलट कर कहा कि क्या अंग्रेज इतने दिन टिक पायेंगे ? कैसा दृढ़ था उनका आत्मविश्वास।

सावरकर का बन्दी जीवन घोर यातनाओं का था। खड़ी हथकड़ी, कोल्हू में जुतकर तेल निकालना एवं मूंज कूटकर रससी बनाना जैसे कठिन कार्य उन्हें दिये जाते एवं कार्य पूरा न होने पर कठोर दंड। बड़े भाई बाबाराव सावरकर को भी पहले से ही कालेपानी की सजा थी एवं छोटा भाई भी भारत में जेल में बन्दी था। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जेल में समाज सुधार का कार्य चालू किया एवं छोटी-छोटी भूलों पर हिन्दू से मुसलमान बना लिए गए हिन्दू बंदियों को पुन: स्वधर्म में लौटाया। बंदीगृह में भूल से ही यदि किसी हिन्दू की थाली मुसलमान की थाली से छू जाती तो दूसरे हिन्दू उसे जाति से बाहर कर देते। सावरकर ने उन्हें स्वधर्म में लौटाया एवं सबसे कहा कि धर्म का स्थान हृदय है, खाना-पीना या बाह्य आचार नहीं। जेल में नमाज पढ़ने की तो छूट थी पर पूजा-पाठ की नहीं, उन्होंने सत्याग्रह करके इसे भी चालू कराया। जेल में हिन्दू अनपढ़ों को पढ़ाया, दीवारों पर लोहे की कीलों से लिखकर पुस्तक रचना की, युवक कैदियों को अर्थशास्त्र, इतिहास, राजनीतिशास्त्र आदि विषयों का अध्ययन कराया। अनेक क्रान्तिकारियों के विचार इन्होंने अपनी वाणी से बदले। भाई परमानन्दजी जो जेल में आमरण अनशन पर थे उन्हें यह कहकर अनशन से विरत कराया कि- "यदि कुछ कृति करनी ही हो तो जिसमें शत्रु पक्ष की हानि अधिक हो ऐसी कृति करो"। कमला, गोमान्तक, महासागर आदि काव्य सावरकर ने जेल में ही रचे। इतिहास में ऐसा कोई अन्य उदाहरण नहीं है।

कालान्तर में भारी परिश्रम के कारण सावरकर अत्यन्त अस्वस्थ हो गए। उनके जीवन की आशा भी क्षीण होने लगी। इस पर भारत में उनकी मुक्ति के लिए आन्दोलन चला जिसके फलस्वरूप १९२१ ई. में दोनों सावरकर बन्धुओं को अण्डमान से हटाकर भारत की मुख्य भूमि पर लाया गया। पहले कलकत्ता की अलीपुर जेल में एवं बाद में रत्नागिरी (महाराष्ट्र) में रखा गया। रत्नागिरी में इन्हें कालान्तर में जिले भर में घूमने की छूट दी गई। इसका उपयोग इन्होंने शुद्धि एवं अछूतोद्धार जैसे कार्यों में किया। उस समय खिलाफत समर्थक पठानों ने रत्नागिरि जेल में भी उपद्रव किया किन्तु सावरकरजी के नेतृत्व में हिन्दुओं ने इसका मुंहतोड़ जवाब दिया। इन्होंने यहाँ भी शुद्धि का कार्यक्रम प्रारंभ किया एवं अपनी पैनी लेखनी से 'हिन्दुत्व' नामक विशाल ग्रन्थ की रचना की। थोड़े दिन बाद इन्हें यरवदा जेल में भेज दिया गया। यहाँ उन्होंने एक ईसाई अफसर एवं उसकी पत्नी को हिन्दू धर्म में दीक्षित किया। १९२५

ई. में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. हेडगेवारजी से भी इनकी भेंट हुई जिसमें देश एवं समाज की परिस्थितियों पर गहन विचार हुआ।

१९३६ ई. में इन्हें सब बन्धनों से मुक्त किया गया। इन्हें कांग्रेस की ओर से भी आमन्त्रण मिला पर आपने हिन्दू महासभा का मंच स्वीकार किया एवं अनेक वर्ष तक अध्यक्ष के नाते हिन्दू जागरण का काम करते रहे। **'राजनीति का हिन्दूकरण एवं हिन्दुओं का सैनिकीकरण'** का मंत्र भी इन्होंने हिन्दू समाज को दिया। 'शुद्धि और संगठन' इनके दो महामंत्र थे। २ जून १९४० ई. को नेताजी सुभाष ने भी इनसे भेंट की एवं भावी मार्गदर्शन लिया तथा वीर सुभाष को विदेश जाकर क्रान्तिकार्य को आगे बढ़ाने की भी इन्हीं की सलाह थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रतिष्ठाता डॉ. हेडगेवार जी से भी आपका आत्मीय सम्बन्ध पहले से ही था अत: हिन्दू संगठन के विस्तार हेतु इन्होंने नागपुर सहित अनेक स्थानों के दौरे किये।

१९४८ ई. में गांधीजी की हत्या के बाद कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार ने इन्हें भी ईर्ष्यावश बंदी बनाया पर न्यायाधीशों ने इन्हें ससम्मान मुक्त किया। चीनी आक्रमण के विरुद्ध भी इन्होंने पूर्व चेतावनी दी थी। ढलती उम्र में भी आपने 'भारतीय इतिहास के छ स्वर्णिम पृष्ठ' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना कर हिन्दू जाति को अभिनव संदेश दिया था। इन्होंने बताया कि अति विशाल समुद्र का भी किनारा अवश्य होना चाहिए अगर किनारे का उल्लंघन किया तो विनाश निश्चित है। इसी प्रकार हिन्दुओं के मन की विशालता, क्षमाशीलता, शत्रुओं के प्रति भी दया आदि सद्गुणों की भी एक सीमा अवश्य चाहिए। अन्यथा समाज एवं राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। कितनी सटीक है यह सलाह, जिसका साक्षी हमारा पूरा इतिहास तो है ही, आज की बढ़ती हुई आतंकी गतिविधियाँ भी इसी का परिणाम है।

सावरकर यद्यपि क्रान्तिवीर के रूप में ही ज्यादा विख्यात हैं पर माँ सरस्वती की आराधना में भी वे किसी से पीछे नहीं रहे। उन्होंने देशवासियों को राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा देने के लिए अनेकों लेख, कवितायें, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि लिखे तथा दर्जनों महत्वपूर्ण ऐतिहासिक शोध पुस्तकों की रचना की। उनकी रचनाओं का एक-एक शब्द राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस कारण वे जहाँ देशभक्तों के अक्षय-प्रेरणास्रोत हैं, वहाँ वे तथाकथित सेक्युलरवादियों की दुखती रग भी हैं। ऐसे लोगों ने उनके जीवन काल में भी उनका विरोध एवं तिरस्कार किया, आज भी वे उनपर कीचड़ उछालने में कोई कसर नहीं छोड़ रहे हैं। यह समूची बलिदानी परम्परा का अपमान है। इसका पुरजोर विरोध होना चाहिए।

मुस्लिम कट्टरता, ईसाई विस्तारवाद, राजनीति का अपराधीकरण एवं सत्ता के परिवारीकरण के भ्रामक चौराहे पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए देश के लिए सावरकर के विचार एवं कर्म आज और भी प्रासंगिक हो उठे हैं। उनपर गहराई से मनन करने की आवश्यकता है। अपने कर्ममय जीवन के ८३ वर्ष पूरे कर २६ फरवरी १९६६ ई. को वे अनन्त ज्योति में समा गए। ●

मातृभूमि के अनन्य सपूत नरपुंगव भामाशाह

नरपुंगव भामाशाह का नाम मातृभूमि के उन गिने चुने उज्जवल रत्नों में से हैं, जिन्होंने आजीवन अपनी मातृभूमि की स्वाधीनता की रक्षा के लिये सतत संघर्ष किया एवं अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। देश के लिये अपनी सम्पदा की आहुति देने का प्रसंग जहाँ भी आयेगा, भामाशाह का नाम स्वाभाविक रूप से ही सर्वप्रथम स्मरण आयेगा। वस्तुतः मेवाड़ एवं महाराणा प्रताप की उज्जवल कीर्तिपताका का सुदृढ़ दण्ड भामाशाह ही थे, यह कहना किंचित भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। वे केवल दानवीर ही नहीं थे, एक योग्य सेनापति एवं कुशल प्रशासक भी थे। इसी कारण इतिहास में वे 'मेवाड़ के उद्धारक' के नाम से भी विख्यात हैं। भारत सरकार ने उनकी ४००वीं पुण्यतिथि पर विशेष डाक टिकट भी जारी की, जिसमें उन्हें 'राजा भामाशाह' का संबोधन देकर राष्ट्र की श्रद्धा व्यक्त की गई है। भामाशाह के पिता भारमल्ल एवं उनके बाद के वंशजों का भी मेवाड़ के इतिहास में स्मरणीय योगदान रहा है। भामाशाह के बाद उनका पुत्र जीवाशाह एवं पौत्र अक्षयराज भी उन्हीं की भांति मेवाड़ के प्रधान बने एवं अपनी सेवाएँ अर्पित कीं।

भामाशाह का जन्म २८ जून १५४७ ई. तदनुसार आषाढ़ शुक्ल १०, १६०४ वि. को हुआ। इनके पिता भारमल्ल को १५२३ ई. में प्रशासनिक एवं सैनिक योग्यता देखकर महाराणा सांगा ने प्रसिद्ध रणथम्भौर किले की किलेदारी सौंपी थी किन्तु इस किले पर १५४२ ई. में शेरशाह सूरी का आक्रमण एवं अधिकार हो जाने पर ये महाराणा उदय सिंह के पास चित्तौड़ में ही आ गए। महाराणा उदयसिंह का बाल्यकाल रणथम्भौर में भारमल्ल की देख-रेख में ही बीता था अतः वे भारमल्ल की कर्तव्यनिष्ठा, कूटनीतिज्ञता, प्रशासनिक कुशलता आदि गुणों से परिचित थे। इस कारण चितौड़ आने पर भारमल्ल को एक लाख का पट्टा देकर सामन्त बना कर सम्मानित किया। मेवाड़ के सामन्तों में यह बहुत बड़ी जागीरी थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त यह जागीरी भामाशाह को मिली। भारमल्ल के दो पुत्र हुए भामाशाह और ताराचन्द। ये दोनों भाई राम लक्ष्मण की जोड़ी की तरह थे एवं दोनों ही शूरवीर तथा कुशल प्रशासक सिद्ध हुए। भामाशाह का बचपन चित्तौड़गढ़ में ही बीता एवं अस्त्र-शस्त्र एवं घुड़सवारी की शिक्षा-दीक्षा भी यहीं हुई। प्रशासनिक कुशलता, सैनिक योग्यता एवं दानशीलता के गुण इन्हें अपने पिता से विरासत में मिले, जो आगे जाकर और भी पल्लवित हुए। महाराणा उदयसिंह

के ज्येष्ठपुत्र प्रताप से भी भामाशाह की मित्रता चित्तौड़ में ही हुई जो आगे चलकर प्रगाढ़ बनी। प्रताप भामाशाह से ७ वर्ष बड़े थे। महाराणा उदयसिंह का अपनी छोटी रानी भटियानी पर अधिक प्रेम था। अत: छोटा होने पर भी इस रानी के पुत्र जगमाल को युवराज घोषित किया गया। १५७२ ई. में महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के बाद उनकी इच्छानुसार जगमाल मेवाड़ की गद्दी पर बैठा पर मेवाड़ में जैसी संघर्षपूर्ण परिस्थितियाँ थीं, उसमें सभी सरदारों की आशायें वीरता की प्रतिमूर्ति प्रताप पर केन्द्रित थी, वे बड़े भी थे अत: राज्य के वास्तविक हकदार भी थे। इस स्थिति में सभी प्रमुख सामन्तों-सरदारों ने श्मशान भूमि पर ही प्रताप को राजगद्दी पर बैठाने का निश्चय कर, जगमाल को बलपूर्वक राजगद्दी से उतारकर प्रताप का राजतिलक कर दिया। इसमें भामाशाह का, जो एक बड़ी जागीरी का सामन्त था, प्रमुख योगदान था। प्रताप के राजतिलक के समय मेवाड़ को छोड़कर भारत के अधिकांश भाग पर विदेशी आक्रांता मुगल बादशाह अकबर का अधिकार हो चला था। उसके भारत का एकछत्र सम्राट होने में केवल मेवाड़ ही बड़ी बाधा बना हुआ था, जिस पर वह पहले भी क्रूरतम आक्रमण कर चुका था पर सफलता नहीं मिली थी। अत: प्रताप के राजगद्दी पर बैठते ही उसने दबाव बनाना प्रारंभ किया एवं वर्षों तक लगातार अपने प्रमुख सामन्तों और मंत्रियों को प्रताप को समझाने-बुझाने भेजा कि वह भी अन्य राजपूत सरदारों की तरह आधीनता स्वीकार कर चैन से जिये। इस क्रम में जलाल खां कोरची, कुंवर मानसिंह, राजा भगवन्तदास एवं राजा टोडरमल जैसे महत्वपूर्ण व्यक्ति थे परन्तु प्रताप को वे समझा नहीं पाये। इधर अकबर बेताब हो रहा था अत: युद्ध अनिवार्य हो गया जो इतिहास में 'हल्दीघाटी' के युद्ध के नाम से विख्यात है। यह युद्ध १८ जून १५७६ ई. को खमनोर गाँव के समीप के मैदान में हुआ, जिसे अब 'रक्ततालं' कहते हैं। यह छोटा सा भयंकर युद्ध जिसमें दोनों पक्षों ने जान सस्ती और इज्जत महंगी कर दी थी, प्रात: काल आरंभ होकर दोपहर तक चला। राणा प्रताप द्वारा की गई व्यूह रचना में राजा रामसिंह तंवर तथा भामाशाह एवं उनका भाई ताराचन्द अपनी सैनिक टुकड़ियों सहित दाहिनी तरफ का मोर्चा सम्हाले हुए थे। इन लोगों ने राजा मानसिंह के नेतृत्व में युद्ध कर रही मुगल सेना के बाएँ पक्ष पर इतना तेज हमला किया कि बाँई तरफ की मुगल सेना भेड़ों के झुण्ड की तरह भाग खड़ी हुई। भामाशाह एवं ताराचन्द दोनों ही भाइयों का शौर्य देखने लायक था। इसके बाद ये दोनों ही राणा प्रताप के इर्द-गिर्द केन्द्र में आ गये एवं अन्त तक वहीं रहे। प्रताप को युद्ध क्षेत्र से सकुशल निकालने एवं सुरक्षित स्थान तक पहुँचाने में इन दोनों की बड़ी भूमिका रही। तंवर रामसिंह एवं उसके तीनों पुत्र तथा झाला मान्ना, झाला बीदा आदि अनेक प्रमुख सरदार इसमें वीरगति को प्राप्त हुए।

हल्दीघाटी के युद्ध को मुगल पक्ष ने अपनी विजय बनाकर प्रचारित किया परन्तु युद्ध के दूरगामी प्रभाव, लक्ष्यप्राप्ति एवं ख्याति को देखते हुए वास्तविक विजय प्रताप की ही मानी

जानी चाहिये। गुरिल्ला युद्ध में न तो युद्ध से हट जाने का कोई महत्व है, न उस स्थान पर हुई हार-जीत का। महत्व तो अंतिम मोर्चे पर विजय का है। मुगल सेना जिस काम के लिये आई थी वह कुछ भी पूरा नहीं कर पाई। न तो प्रताप को पकड़ पाई, न वहाँ स्थाई आधिपत्य ही जमा पाई। उल्टे वह दहशत में रही कि न जाने प्रताप और उसके सैनिक कब पहाड़ियों से उन पर टूट पड़े। मानसिंह को भी अकबर के पास जाकर युद्ध के बाद अपमानित ही होना पड़ा। उधर हल्दीघाटी युद्ध के बाद प्रताप की कीर्ति पताका चारों ओर फहराने लगी। यह तो सचमुच जनयुद्ध बन गया था, जिसमें राजपूतों के सभी वर्ग, कायस्थ, ब्राह्मण, भील, चारण तो शामिल थे ही, अफगानी पठान भी शामिल थे जो हकीम खाँ के नेतृत्व में प्रताप की ओर से लड़े थे। इस युद्ध के बाद प्रताप समूचे राष्ट्र की स्वाधीनता की लड़ाई के प्रतीक बनकर उभरे थे। हल्दीघाटी के युद्ध में दिखाई गई सैनिक कुशलता से प्रभावित होकर महाराणा प्रताप ने भामाशाह को 'प्रधान' या प्रधानमंत्री के पद पर नियुक्त कर दिया। वैसे तो भामाशाह प्रताप के राज्यारोहण के काल से ही उनका पूरा आर्थिक प्रबंध सम्भालते थे पर इस युद्ध के बाद बहुत से प्रमुख सरदारों के मारे जाने से मेवाड़ की अस्थिर होती प्रशासनिक व्यवस्था को पुनः दुरुस्त करने हेतु भामाशाह को जो नया उत्तरदायित्व मिला उसे उन्होंने पूरी कुशलता से निर्वाह किया। अकबर ने हल्दीघाटी युद्ध के उपरान्त भी मेवाड़ विजय यानि प्रताप की पराजय के स्वप्न को पूरा करने हेतु सैनिक अभियान जारी रखे। प्रताप इस समय कुंभलगढ़ में रहते थे। अक्टूबर १५७७ ई. में शाहबाज खाँ ने भारी सेना के साथ कुंभलगढ़ की नाकेबन्दी कर इस पर अधिकार कर लिया पर प्रताप, भामाशाह, सभी सरदार एवं प्रजा जन वहाँ से पहले ही अन्यत्र प्रस्थान कर चुके थे। यह भामाशाह की चतुराई थी। मेवाड़ पर इस समय आर्थिक संकट गहराया हुआ था अतः भामाशाह एवं उनके भाई ताराचन्द ने १५७८ ई. में अकबर के अधीनस्थ मालवा के क्षेत्र पर आक्रमण कर वहाँ से दण्ड स्वरूप २५ लाख रुपये एवं बीस हजार अशर्फियां प्राप्त की एवं ईडर में निवास कर रहे महाराणा प्रताप को भेंट की। इस धन से प्रताप ने पुनः सेना संगठित की और मेवाड़ से मुगलों को खदेड़ने का अभियान फिर से प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम दिवेर के शाही थाने पर (कुंभलगढ़ से ४० मील दूर) आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया, जिसका सामरिक दृष्टि से बड़ा महत्व था। इस अभियान में भामाशाह के साथ कुंवर अमरसिंह एवं ताराचन्द भी थे। दिवेर की लड़ाई की तुलना कर्नल टॉड ने 'मेराथान' के युद्ध से की है, जिसका यूरोप के इतिहास में अत्यन्त महत्व है। इसके उपरान्त प्रताप का और भी अनेक जगह पुनः अधिकार हो गया- कुंभलगढ़ भी अधिकार में आ गया पर सुरक्षा की दृष्टि से प्रताप ने चावंड को अपनी राजधानी बनाया।

इस सफलता से क्रुद्ध होकर अकबर ने पुनः शाहबाज खाँ को दिसम्बर १५७८ में दूसरी बार मेवाड़ पर आक्रमण करने हेतु भेजा। प्रताप को फिर पीछे हटना पड़ा। एक वर्ष बाद

शाहबाज खाँ पुनः बड़ी तैयारी से आया। बार-बार के युद्ध से मेवाड़ जर्जरित हो चुका था एवं आर्थिक संकट भी गहरा गया था इससे प्रताप के मन में भी हताशा आ गयी। ऐसे समय भामाशाह ने बहुत बड़ी धनराशि प्रताप के चरणों में भेंट की, जिससे २५ हजार सैनिकों का १२ वर्षों तक का खर्च चलाया जा सकता था। भामाशाह की व्यक्तिगत सम्पत्ति का यह समर्पण इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। इस धन से महाराणा प्रताप ने पुनः सैन्य एकत्र की एवं मुगल विरोधी अभियान को पूरे वेग से चलाया। यह घटना १५८० ई. के लगभग की है। इस घटना के कारण भामाशाह को इतिहास में 'मेवाड़ के उद्धारक' के रूप में स्मरण किया जाता है।

कतिपय इतिहासकारों का कथन है कि भामाशाह ने राजकोष की अन्यत्र सुरक्षित छिपाकर रखी राशि ही जरूरत के समय प्रताप को समर्पित की थी पर यह कथन ठीक नहीं लगता क्योंकि उस अवस्था में इस घटना को इतनी ऐतिहासिक कीर्ति नहीं मिलती। प्रताप के त्याग, बलिदान एवं संघर्ष से सारा देश अनुप्राणित था। प्रताप मेवाड़ ही नहीं, पूरे भारत के स्वातंत्र्य संघर्ष का प्रतीक बना हुआ था, हिन्दू स्वाभिमान की नौका का अकेला खेवैया था अतः भामाशाह द्वारा निजी सम्पत्ति का दान किया जाना भामाशाह के लिये भी आत्मगौरव की बात थी जो उन्होंने की क्योंकि उनमें भी सच्ची स्वामिभक्ति एवं देशभक्ति हिलोरे ले रही थी। ऐसे देशभक्त एवं स्वामिभक्त के बल पर ही प्रताप ने १५८६ ई. तक मांडलगढ़ और चित्तौड़गढ़ को छोड़कर सम्पूर्ण मेवाड़ पर पुनर्विजय प्राप्त की। अकबर भी उस समय उत्तरी पश्चिमी सीमांतों पर अफगानों से उलझ गया अतः मेवाड़ की ओर दृष्टि नहीं कर पाया, शायद वह विधि का विधान समझ गया हो। इसके बाद १५९७ ई. में चावंड में प्रताप के स्वर्गारोहण तक एवं बाद में अमर सिंह के राजतिलक के प्रारंभ के २-३ वर्ष तक यानि जनवरी १६०० ई. में अपनी मृत्यु पर्यन्त भामाशाह मेवाड़ के प्रधानमंत्री के रूप में सेवा करते रहे। वे आर्थिक दृष्टि से तो उदार थे ही अतः मुक्त हस्त से चारणों, कवियों एवं प्रजा के जरुरतमंदों की सहायता करते रहते थे, धार्मिक दृष्टि से भी उदार थे। सभी सम्प्रदायों के मंदिरों का उन्होंने जीर्णोद्धार कराया जो मुगल आक्रमण के कारण ध्वंस हो गये थे। ऐसे शूरवीर, योग्य प्रशासक एवं मेवाड़ के सच्चे उद्धारक, स्वामिभक्त, राष्ट्रभक्त को हमारा शत-शत नमन। ●

राष्ट्रीय स्वतंत्रता एवं एकता के परम साधक

बीसवीं सदी के चाणक्य : सरदार बल्लभ भाई पटेल

देश की स्वतंत्रता, एकता एवं सुरक्षा के लिए अथक काम करने वालों में सरदार बल्लभ भाई पटेल का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। आज़ादी की लड़ाई में अपने साहस, दृढ़ निश्चय एवं भारत माता के प्रति पूर्ण समर्पण से सतत् संघर्षशील रहकर जैसा लोक-जागरण एवं संगठन खड़ा किया वह तो अद्‌भुत था ही, इससे भी बड़ी उपलब्धि थी भारत के विभिन्न हिस्सों में अवस्थित ५६२ छोटी-मोटी देशी रियासतों के भारत में विलय कराने की, जिन्हें अंग्रेजों ने भारत से विदा होने की योजना में यह छूट दे दी थी कि वे चाहे तो भारत में या पाकिस्तान में मिलें या चाहें तो स्वतंत्र रहें। सदियों से शासक के रूप में चले आ रहे इन राजाओं के सिरों से राजमुकुट उतार कर उन्हें बिना संघर्ष के भारत माता के चरणों में चढ़ा देना ऐसा ऐतिहासिक कार्य था जिसकी तुलना भारत के इतिहास में चाणक्य से या विदेशी इतिहास में जर्मनी के बिस्मार्क से की जा सकती है, पर लक्ष्य प्राप्ति में इन्हें भी हिंसा का सहारा लेना पड़ा था। सरदार पटेल ने जिस कूटनीति एवं देशभक्ति की भावनाओं का सरोकार ज़गाकर इस कार्य को लगभग बिना किसी रक्तपात के पूरा कर दिखाया इसकी इतिहास में कोई दूसरी मिसाल ढूँढ़े से भी नहीं मिलेगी। यदि यह कार्य पूरा नहीं होता तो भारत न केवल सैंकड़ों टुकड़ों में बँट जाता बल्कि भारत की एक बड़ी जनसंख्या पहले से भी अधिक निरंकुश राजाओं के शासन में रहने को मजबूर हो जाती। ऐसे में आजाद भारत की जो तस्वीर बनती इसकी कल्पना करके ही आज भी सिहरन पैदा हो सकती है।

भारत को जिन परिस्थितियों में आजादी मिली उसके पूर्व की राजनैतिक पटभूमि पर थोड़ी नजर डालना उचित होगा। मई १९४५ ई. में द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हुआ, जिसमें ब्रिटेन सहित मित्र राष्ट्रों की विजय हुई पर ब्रिटेन की सार्विक स्थिति बहुत नाजुक हो चली थी और ऐसे में भारत जैसे स्वतंत्रता के लिए संघर्षरत देश को परतंत्र रखना उनके लिए असंभव हो चला था, विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि उन्हें भारतीय फौज पर भरोसा उठ गया था। फरवरी १९४६ में भारतीय नौ-सैनिकों ने सचमुच विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था, जो भारत के नेताओं के समझाने बुझाने पर ही शांत हुआ। इसमें से ब्रिटेन ने अपने भविष्य को

पहचान लिया एवं मई १९४६ ई. में भारत को स्वशासन देने की अपनी योजना घोषित कर दी तथा २ सितम्बर १९४६ ई. को केंद्र की अंतरिम सरकार घोषित हुई, जिसके नेता हुए पं. जवाहरलाल नेहरू एवं गृह विभाग सरदार पटेल को सौंपा गया। एकता के नाम पर मुस्लिम लीग को वित्त विभाग मिला। यद्यपि वह १६ अगस्त १९४६ ई. को 'सीधी कार्यवाही' का दिन बनाकर भयंकर रक्तपात कर चुकी थी। इधर ब्रिटेन में भी चर्चिल की सरकार बदल चुकी थी एवं नये प्रधान मंत्री एटली घोषणा कर चुके थे कि जून १९४८ ई. में भारत को स्वाधीन कर दिया जाएगा, पर अंग्रेज 'भारत के सम्राट' जैसी पदवी छोड़ देने को इतनी आसानी को कैसे पचा पाते? वे मुस्लिम लीग को असहयोग के लिए निरंतर प्रच्छन्न रूप से उकसाते रहे एवं स्वतंत्रता देते हुए ये विष बीज बो गये। भारत के साम्यवादियों ने भी मुसलमानों के लिए अलग देश की मांग का समर्थन किया एवं वे कहते रहे कि पहले मुसलमानों को अपना हक मिलेगा, तभी भारत स्वतंत्र होगा। उनका गणित था कि इससे उन्हें पाकिस्तान में अपना प्रभाव फैलाने में सुविधा होगी, पर उन्हें निराशा ही हाथ लगी।

अंततः ३ जून १९४६ ई. को भारत के नये वायसराय लार्ड माउंटबेटन ने यह घोषणा कर दी कि भारत की बिगड़ती हुई परिस्थिति को देखते हुए १५ अगस्त १९४७ ई. को ही इसे स्वतंत्रता दे दी जायेगी, मुस्लिम लीग को भारत के पूर्वी हिस्से एवं पश्चिमी हिस्से में पाकिस्तान दे दिया जायेगा एवं रजवाड़े भारत या पाकिस्तान किसी में भी मिल सकेंगे या चाहे तो स्वतंत्र भी रह सकेंगे। विभाजन विरोधी होते हुए भी विविध कारणों से भारत के लोगों को यह कड़वा घूँट पीना पड़ा। १४ अगस्त को पाकिस्तान बना एवं १५ अगस्त को भारत को स्वतंत्रता मिली। अब गृह विभाग का जिम्मा सरदार पटेल के पास था। इसलिए सर्वाधिक चुनौती भी उन्हीं के लिए थी। उन्हें एक ही धुन सवार हो गयी कि कैसे देशी रियासतों का १५ अगस्त के पूर्व ही भारत में विलय कराया जाये और एक भी रियासत भारत से बाहर न रहे, ताकि मुस्लिम लीग के हाथों से बचे हुए भारत को एकजुट रखा जा सके और बाकी का कार्य भविष्य के लिए छोड़ दिया जाये।

सरदार ने इस कार्य के लिए अपने को पूरी तरह झोंक दिया। उन्होंने राजाओं को भरोसे में लेते हुए कहा कि मैं तो कोई राज-घराने में भी पैदा नहीं हुआ पर आज प्रशासन के शीर्ष पद पर हूँ। भारत में मिलने पर यह द्वार आपके लिए भी खुला है। हम सब एक ही गौरवपूर्ण विरासत के हकदार है और एक रक्त और उदात्त भावनाओं के बंधन से बंधे हुए हैं। अगर हम परस्पर कल्याण के लिए सहयोग की भावना से कार्य नहीं करेंगे तो देश में अराजकता फैल जायेगी एवं हम सभी का सर्वनाश हो जायेगा। इससे राजाओं के मन का डर दूर हो गया एवं अल्पकाल में ही हैदराबाद, जूनागढ़ एवं कश्मीर प्रभृति कतिपय राज्यों को छोड़कर

सारे रजवाड़ों ने भारत में विलय के संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। हैदराबाद और जूनागढ़ बाद में मिले। कश्मीर पाकिस्तान की दुरभिसंधि के कारण स्वतंत्र रहना चाहता था पर जब उसके इशारे पर कबाइलियों ने अक्टूबर १९४७ ई. में आक्रमण किया तो सरदार पटेल के परामर्श पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघचालक श्री गुरुजी गोलवलकर ने महाराजा हरिसिंह से मिलकर उन्हें भारत में सम्मिलित होने की सलाह देकर इस हेतु तैयार किया। सरदार की योजना से मेहरचन्द महाजन को प्रधानमंत्री बनाकर भेजा गया। पर नेहरूजी चाहते थे कि शेख अब्दुल्ला वहां का प्रधानमंत्री बने। महाराजा ने २६ अक्टूबर १९४७ ई. को भारत में विलय पत्र पर सही कर दी और भारतीय फौज ने आक्रमणकारियों को बहुत दूर तक पीछे खदेड़ दिया, परंतु इस बीच नेहरूजी ने कश्मीर का मामला पटेल से हटाकर अपने अधीन ले लिया और वायसराय की सलाह पर बढ़ती हुई भारत की फौज को बीच में ही रोककर मामला यू.एन.ओ. में ले गये। उन्हीं की सलाह पर शेख अब्दुल्ला को प्रधानमंत्री बनाया गया और कश्मीर भारत में मिलकर भी धारा ३७० के कारण अलग-थलग बना रहा। शेख अब्दुल्ला ने पाकिस्तान से आये शरणार्थियों को भी वहाँ नहीं बसने दिया और कश्मीर का अलग विधान, अलग प्रधान व अलग झंडा कायम रहा। भारत से वहाँ जाने के लिए परमिट प्रणाली लागू की गयी। डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के बलिदान से इसमें कुछ सुधार हुआ, पर बाद में कश्मीर घाटी से हिन्दुओं को भगा दिया और आज भारत भक्तों के लिए वहाँ रहना कठिन है, सेना भी विशेष कुछ नहीं कर पा रही है। कश्मीर हमारे गले की फँसी हुई हड्डी बना हुआ है। अगर सरदार पटेल के हाथों में यह मामला रहता तो अन्य रजवाड़ों की तरह कभी का हल हो गया होता।

तिब्बत के मसले पर भी सरदार पटेल ने यथासमय नेहरूजी को चेताया था एवं चीन से सावधान रहने को कहा था पर नेहरूजी ने इन पर भी उनकी राय की अवहेलना की, जिसके परिणाम हमारे सामने है। आजादी के बाद अनेक अहम मसलों पर नेहरू एवं पटेल के विचार परस्पर मेल नहीं खाते थे। इसका मुख्य कारण था दोनों का स्वभाव एवं संस्कार। नेहरू अंग्रेजी रंग-ढंग में पले थे एवं अंतराष्ट्रीयवादी थे, जबकि पटेल आम भारतीय की तरह सोचते थे। सोमनाथ मंदिर के पुनर्निमाण पर भी नेहरूजी की नाराजगी जग-जाहिर थी। इस खींचतान के कारण दो बार दोनों ने अपने-अपने पदों से अलग हो जाने की इच्छा भी प्रकट की, पर गांधीजी के दबाव में पटेल एक अनुशासित सिपाही की तरह आजीवन कार्य करते रहे।

सरदार पटेल का जन्म गुजरात ३१ अक्टूबर १८७५ ई. को पिता झवेर भाई एवं माता लाडबा के पाटीदार परिवार में हुआ। झवेर भाई की गुजरात के आनंद सूबे के करमसद गाँव में कृषिभूमि थी। बल्लभ भाई चौथी पुरुष संतान थे। उनके बाद भी एक भाई एवं एक बहन

और हुए। उनके पिता १८५७ के स्वातंत्र्य समर में रानी झांसी की ओर से लड़ने हेतु ३ वर्ष घर से बाहर रहे। बाल्यकाल से ही इनमें नेतृत्व एवं साहस के गुण थे, पर परिवार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी फिर भी अपनी लगन से उन्होंने पहले प्लीडर की परीक्षा पास की एवं बाद में १९१० ई. में लंदन जाकर बैरिस्ट्री करके १९१३ ई. में भारत लौटे। सरदार जब ३३ वर्ष के थे तभी उनकी पत्नी का देहांत हो गया पर उन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। उनकी दो संताने थीं-डाह्या भाई एवं मणिबेन। १९१३ से १९१८ ई. तक वकालत में भरपूर प्रसिद्धि एवं धन मिला पर १९१९ ई. में गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन की रणभेरी बजा देने पर अपनी फलती-फूलती वकालत को तिलांजलि देकर ये उसमें कूद पड़े। बारडोली के १९२८ ई. के लगान विरोधी सत्याग्रह में जिस दृढ़ता से इन्होंने नेतृत्व दिया एवं सफलता प्राप्त की, उसी कारण इनको 'सरदार' की पदवी मिली। उसके बाद उन्होंने कभी मुड़कर पीछे नहीं देखा और गांधीजी के सभी आंदोलनों में उनके प्रमुख सहयोगी बने रहे। स्वाधीन भारत की सरकार में १९४७ से १९५० ई. तक तीन वर्षों में इन्होंने अपने गुरुतर दायित्व को जिस ढंग से निभाया वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। कार्य के दबाव में इनका स्वास्थ्य निरंतर बिगड़ता गया और १५ दिसम्बर १९५० ई. की रात्रि को उन्हें हृदय रोग का आघात हुआ और उनका पार्थिव शरीर पंचतत्व में मिल गया। उनके निधन पर सारा देश शोक में डूब गया। ऐसे महामानव की १३६वीं जन्म जयंती पर हमारा सश्रद्ध नमन। ●

जन्म शतवर्ष-पूर्ति पर विशेष

राष्ट्रीयता के सजग प्रहरी : डॉ. राममनोहर लोहिया

स्वाधीनता के संघर्ष और स्वतन्त्र भारत की राजनीति एवं भविष्य निर्माण की चिन्तनधारा को संवारने-सजाने एवं दिशा-निर्देश हेतु जिन इने-गिने लोगों को सदा-सदा के लिए स्मरण किया जाता रहेगा उनमें डॉ. राम मनोहर लोहिया विशेष हैं। अंग्रेजी साम्राज्यवाद, पुर्तगीज साम्राज्यवाद एवं नेपाल सहित अन्य राजशाहियों को क्रान्तिकारी एवं जनआन्दोलनों के जरिए उखाड़ फेंकने के लिए वे देश की आजादी के पूर्व निरन्तर संघर्षरत रहे एवं अपार कष्ट भोगे। आजादी के बाद भी जनहित की नीतियों के लिए संघर्षरत रहकर स्वतन्त्रतापूर्व से भी अधिक बार जेल जाने वाले वे अकेले बड़े राजनेता थे।

नेहरू एवं पटेल द्वारा विभाजन को स्वीकार किये जाने के लोहिया घोर विरोधी थे फिर भी वे आशान्वित थे कि कांग्रेस देश को नई एवं सही राह पर ले जायेगी पर शीघ्र ही कांग्रेस की अंग्रेजी मॉडल के प्रति प्रतिबद्धता, साम्यवादी सोच के प्रति झुकाव, चरम व्यक्तिवाद, भारत की संस्कृति एवं परम्पराओं के प्रति अन्तर्मन से विरोधभाव एवं परम स्वार्थवादिता और सार्वजनिक जीवन में बढ़ती चापलूसी एवं बेईमानी को देखकर लोहिया के मन में शासकदल के प्रति ग्लानि भर गई थी। वे लोकतन्त्र को जीवन के प्रत्येक स्तर पर स्वच्छ एवं समृद्ध करना चाहते थे अत: कांग्रेस की एकाधिकारशाही को मिटाकर भारतीय राजनीति को स्वदेशाभिमुख एवं लोकहितकारी बनाना चाहते थे। वे उसे चन्द अंग्रेजी पढ़े लिखे विदेशी मानसिकता के पिट्ठुओं के हाथों से निकालकर आम जनता के हाथों में सौंपना चाहते थे इसीलिए वे अंग्रेजी को हटाकर हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं को प्रतिष्ठित करने के पक्षधर थे एवं ऐसे आन्दोलनों को उन्होंने नेतृत्व भी दिया।

वे इस बात से भी परेशान थे कि बिखरी हुई विपक्षी पार्टियों के कारण कांग्रेस का अहंकार एवं जनता की निराशा और भी गहराती जा रही है अत: उन्होंने विपक्ष में आपसी तालमेल बैठाने के लिए कठोर परिश्रम किया और उन्हीं के परिश्रम से १९६७ ई. के चुनावों में कांग्रेस आठ राज्यों में पराभूत हुई। विपक्ष को प्रलोभन और दल-बदल के हथकंडों से तेजहीन करते रहने की कांग्रेसी नीति पहली बार विफल हुई और लोकतन्त्र सजीव हो उठा।

लोहिया सच्चे लोकतन्त्र के लिए राजसत्ता का विकेन्द्रीकरण चाहते थे। इसे उन्होंने 'चौखम्भा राज' का नाम दिया। इसका अर्थ था कि राजसत्ता ग्राम या नगर, जिला, प्रान्त और केन्द्र में निर्धारित अधिकार एवं राजस्व के निश्चित बंटवारे के साथ चले तभी सच्चा लोकतंत्र आऐगा। धीरे-धीरे सबने इसकी उपयोगिता को स्वीकारा पर दुःख है कि आजादी के ६४ वर्षों के उपरान्त भी अभी तक उसे सही रूप में लागू नहीं किया जा सका है।

लोहिया के दर्शन का मर्म उनकी 'सप्तक्रान्ति' की कल्पना में निहित था, जिसे जे.पी. ने आगे चलकर सम्पूर्ण क्रान्ति का नाम दिया। यह भारत के नवनिर्माण का सपना था जिसमें परिकल्पित थी- १) नर-नारी की समानता २) रंगभेदों पर आधारित विषमता की समाप्ति ३) जन्म तथा जाति पर आधारित असमानता का अन्त ४) विदेशी जुल्म का खात्मा एवं विश्व सरकार का निर्माण ५) आर्थिक असमानता का अन्त ६) सिविल नाफरमानी एवं ७) स्वतन्त्रताओं पर होने वाले अतिक्रमण का मुकाबला। इसकी तरफ बढ़ने से ही देश में सच्चे लोकतन्त्र का निर्माण होगा।

लोहिया अर्थनीति एवं विदेशनीति के भी गहरे जानकार थे। संसद में उन्होंने सरकार को मानने को मजबूर किया कि भारत के गरीब केवल तीन आने रोज पर जीवन चला रहे हैं। 'तीन आने बनाम तेरह आने' की बहस प्रसिद्ध है। विदेशनीति के मूल में नकली विश्वयारी से उन्हें घृणा थी, वे राष्ट्रहित को सर्वोपरि समझते थे। इतिहास को देखने की उनकी दृष्टि सर्वथा नई थी, भारत के वर्तमान एवं भविष्य को संवारने की उनकी विलक्षण सोच थी। उनका समाजवाद, साम्यवाद से सर्वथा भिन्न एवं भारत-प्रेम से ओत-प्रोत था। वे कहते थे- **'अब समय आगया है कि धर्म को दीर्घकालीन राजनीति और राजनीति को अल्पकालीन धर्म माना जाए। दोनों के बीच का रिश्ता अन्वेषण योग्य है।'** वे कहते थे कि राम, कृष्ण और शिव भारत में पूर्णता के तीन महान स्वप्न हैं। विश्व रामायण मेले को प्रारंभ करने में वे ही सूत्रधार थे। यानी लोहिया की गुणावली अनन्त है। दुःख है कि वे मात्र ५७ वर्ष की उम्र में ही १२ अक्टूबर १९६७ ई. को पौरुषग्रन्थि के केन्सर के कारण असमय ही चले गए।

२३ मार्च १९१० ई. को उनका जन्म तमसा नदी के पावन तटपर अवस्थित अकबरपुर जिला फैजाबाद में एक सामान्य राजस्थानी कुल के वैश्य परिवार में हुआ। लोहिया के परिवार का कोलकाता से भी गहरा सम्बन्ध था। लोहिया ने कॉलेज की पढ़ाई कलकत्ता से ही की एवं बाद में १९३६ से १९४४ ई. तक इसे अपना राजनैतिक कर्मक्षेत्र बनाया। गांधीजी के बाद देश की राजनैतिक नब्ज की सबसे अधिक पहचान उन्हें ही थी। ऐसे महामानव को जन्मशतवर्ष पूर्ति (१०१ वें जन्म दिवस) पर सश्रद्ध नमन। ●

सम्पूर्ण क्रान्ति के स्वप्नद्रष्टा : लोकनायक जयप्रकाश नारायण

देश में स्वाधीनता लाने के लिए एवं तत्पश्चात प्राप्त हुए लोकतन्त्र की रक्षा करने के लिए जिन महान देशभक्तों ने आजीवन संघर्ष किया उनमें लोकनायक जयप्रकाश नारायण का नाम अग्रिम पंक्ति में है। **'स्वप्नों का द्रष्टा जयप्रकाश, भारत का भाग्य विधाता है'** राष्ट्रकवि दिनकर की जयप्रकाश के बारे में लिखी गई आजादी के पूर्व की ये पंक्तियाँ उनके जीवन के बारे में अक्षरश: सत्य उतरती हैं। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में स्वप्नद्रष्टा जयप्रकाश सचमुच ही भारत के भाग्य विधाता बने पर वे सत्तासीन नहीं हुए। जनता ने उन्हें लोकनायक बनाया पर वे सदैव अपने को लोकसेवक ही समझते रहे। यही तो इस महान भारत की पवित्र मिट्टी का वैशिष्ट्य है, जयप्रकाश ने इसे अपने जीवन में साकार किया।

यह वर्ष जयप्रकाश नारायण का, जिन्हें प्यार से देशवासी जे.पी. कहते हैं, जन्मशताब्दी वर्ष है। हमारी पीढ़ी का यह सौभाग्य है कि हमने उन्हें अपनी आंखों के सामने कार्य करते हुए देखा, वृद्धावस्था एवं रुग्णावस्था में भी युवकों का नेतृत्व करते हुए एवं आपातकाल के घनघोर अंधेरे में भी तानाशाह शासक की चुनौती स्वीकार कर लोकतन्त्र का प्रकाश पुन: लौटा कर लाते हुए देखा। अकल्पनीय को साकार होते हुए देखा। तब जन-जन के कंठों में एक ही गान गूँज उठा था **''अंधकार में एक प्रकाश, जयप्रकाश, जयप्रकाश''**।

बिहार और उत्तरप्रदेश की सीमा पर जहाँ सरयू एवं गंगा मिलती है, पटना से ५० कि.मी. दूर, सिताब दियारा गांव में हरसूदयाल एवं फूलरानी के परिवार में चौथी सन्तान के रूप में पावन विजयादशमी, विक्रमाब्द १९५९, तदनुसार ११ अक्टूबर १९०२ ई. को एक पुत्ररत्न ने जन्म लिया जिसका नाम रखा गया जयप्रकाश।

प्राइमरी तक की पढ़ाई गांव में ही समाप्त करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए इन्हें पटना भेज दिया गया जहाँ वे उस समय के प्रतिष्ठित सरस्वती भवन छात्रावास में रहने लगे एवं पटना कॉलेजियेट स्कूल में भर्ती हुए। सरस्वती भवन उन दिनों प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का अखाड़ा था। जयप्रकाश भी बचपन से ही मेधावी थे। १९१९ ई. में वे मैट्रिक में प्रथम श्रेणी में बहुत अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हुए एवं उन्हें मेरिट छात्रवृत्ति मिली। स्कूल की पढ़ाई

के साथ-साथ समाचारपत्रों एवं अन्य पुस्तकों में भी उनकी बहुत रुचि थी। गीता तो उनकी सबसे प्रिय पुस्तक थी। मैट्रिक पास करने के उपरान्त आपने पटना के कॉलेज में ही आई.एस-सी. में प्रवेश लिया।

सारे देश में उस समय राजनीति में दो धारायें काम कर रही थीं : गरम दल एवं नरम दल। जलियांवाला बाग काण्ड, रोलेट एक्ट, होमरूल आन्दोलन एवं बंगाल के क्रान्तिकारियों के कारण नौजवानों में अंग्रेजों को सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा भगा देने का आकर्षण कम नहीं था। दूसरी ओर थी गांधीजी की अहिंसक धारा। चम्पारण के अहिंसक सत्याग्रह एवं गांधीजी के लेखों तथा सादगी का जयप्रकाश के जीवन पर अपेक्षाकृत अधिक असर पड़ा एवं उन्होंने खद्दर धारण कर लिया। भारतेन्दु के देशभक्ति के नाटकों ने उन पर गहरी छाप छोड़ी एवं गीता के साथ-साथ तुलसीकृत 'रामचरितमानस' एवं मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' भी उनके प्रिय ग्रन्थ बन गए। किन्तु यह युग विज्ञान का है, अतः वैज्ञानिक बनना चाहिए, यह सोचकर कॉलेज में उन्होंने विज्ञान लिया। साहित्य और विज्ञान की गंगा-जमुना एकत्र होकर उनके हृदय में बहने लगी।

इसी समय संयोग से अपने एक सम्बन्धी के साथ वे बिहार के उस समय के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता ब्रजकिशोर बाबू के घर डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के दर्शन करने गए। ब्रजकिशोर बाबू को एक नजर में ही जयप्रकाश भा गये एवं उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री प्रभा का सम्बन्ध तय कर अक्टूबर १९२० में उनसे विवाह कर दिया। तब जयप्रकाश १८ वर्ष के थे एवं प्रभावती देवी १४ वर्ष की थीं। इस सम्बन्ध से जयप्रकाश जी का देशभर के कांग्रेस के बड़े नेताओं से सम्पर्क का दायरा बढ़ गया। ब्रजकिशोर बाबू की छोटी पुत्री का विवाह राजेन्द्र बाबू के लड़के से हुआ अतः राजेन्द्र बाबू से भी जयप्रकाश का आत्मीय सम्बन्ध हो गया।

विवाह के पश्चात् ज्यों-ज्यों जयप्रकाश किशोरावस्था को पार कर युवावस्था की ओर कदम बढ़ा रहे थे, त्यों-त्यों देश का राजनीतिक वायुमंडल अधिकाधिक गरमाता जा रहा था। १९२० के नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में गांधीजी के असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम को पूरी तरह स्वीकृत कर लिया गया। वकील वकालत छोड़ने लगे, छात्र स्कूल-कॉलेज छोड़ने लगे एवं विशिष्ट जन उपाधियाँ लौटाने लगे तथा नौकरियाँ छोड़ने लगे। राजेन्द्र बाबू ने भी वकालत छोड़ी। जयप्रकाश एवं उनके साथियों ने भी कॉलेज छोड़ दिया एवं असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। आन्दोलन ज्यों-ज्यों तेज होता गया, अंग्रेजों का अत्याचार भी सीमा लांघता गया। इस दमन चक्र में लोग सर्वथा अहिंसक नहीं रह सके एवं १९२२ ई. में चौरी-चौरा नामक स्थान पर हिंसक घटना घट गई। गांधीजी ने तुरन्त असहयोग आन्दोलन वापस ले लिया। इससे देश में सर्वत्र निराशा एवं हताशा छा गई।

ऐसी परिस्थितियों में जयप्रकाश ने भी आगे की पढ़ाई के लिए विदेश जाने का विचार किया। असहयोग आन्दोलन के दिनों में बिहार में स्वामी सत्यदेव के व्याख्यानों की बड़ी धूम थी। अमेरिका सम्बन्धी उनकी पुस्तकें भी बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं। अमेरिका में विद्यार्थी स्वावलम्बन के आधार पर पढ़ सकते हैं, इस बात से जयप्रकाश आकर्षित हुए एवं आर्थिक अभावों के बावजूद १६ मई १९२२ को कलकत्ता बन्दर से 'जेनस' नामक जहाज से सिंगापुर, हांगकांग, जापान होते हुए ८ अक्टूबर को सेन्फ्रांसिस्को पहुंचे एवं केलिफोर्निया युनिवर्सिटी में भरती हुए। पढ़ाई की फीस ज्यादा थी, मेहनत मजदूरी से पार नहीं पड़ रही थी, अतः एक से दूसरी युनिवर्सिटी बदलते गए, शिकागो भी गए एवं अन्त में विसकान्सिन आए। वहाँ पौलेंड निवासी यहूदी जाति के एबराम लैंडी की मित्रता एवं संगत ने इन पर मार्क्सवादी रंग चढ़ा दिया। मार्क्सवादी साहित्य को उन्होंने गंभीरता से पढ़ा एवं वहाँ कम्युनिस्ट पार्टी से भी जुड़ गए। एम.एन. राय को भी उन्होंने पहली बार वहीं पढ़ा। अमेरिका में ही उनका संक्षिप्त नाम जे.पी. प्रचलित हुआ।

जे.पी. विज्ञान के विद्यार्थी थे पर उनके अमेरिकन मार्क्सवादी मित्रों ने उनसे आग्रह किया कि वे विज्ञान छोड़कर समाजशास्त्र की उच्च शिक्षा के लिए रूस जाएं। यात्रा भाड़े के चार सौ डॉलर की व्यवस्था न होने के कारण वे रूस तो नहीं जा सके पर वहीं उन्होंने विज्ञान छोड़कर समाजशास्त्र विषय ले लिया। एम.ए. में उनके शोध प्रबन्ध का विषय था 'सोशल वेरियेशन'। जयप्रकाश ने अपने इस शोधप्रबन्ध में बताया कि किस प्रकार समाज में नये-नये रीति-रिवाज पैदा होते हैं और उसमें से कुछ बचते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं। इस शोध को उस वर्ष उस युनिवर्सिटी का सर्वश्रेष्ठ शोध प्रबन्ध माना गया। इसके साथ-साथ उन्होंने और भी अनेक विषयों का गहन अध्ययन किया। अमेरिका प्रवास के ७ वर्षों में जे.पी. को कमोड साफ करने से लेकर खेत मजदूरी एवं प्रोफेसरी तक के सभी कर्मों से अपनी आजीविका चलानी पड़ी। वे और भी आगे पढ़ना चाहते थे पर माँ की भारी अस्वस्थता के कारण वे इंग्लैण्ड होते हुए १९२९ ई. में भारत लौट आए। १९३० में उनकी माताजी का देहान्त हो गया।

यद्यपि जे.पी. ने अमेरिका में मार्क्सवादी दीक्षा प्राप्त की थी पर भारत आकर वे सरदार पटेल, राजेन्द्र बाबू एवं गांधीजी के प्रभामंडल में चले गए। उनकी पत्नी प्रभावती ने ७ वर्ष तक गांधीजी के आश्रम में उनकी सेवा कर बेटी का स्थान पा लिया था, वह उन्हें गांधीजी के पास ले गई। बापू के व्यक्तित्व, स्नेह एवं स्वागत से जे.पी. बहुत प्रसन्न हुए तथा उनके साथ ही कांग्रेस के लाहोर अधिवेशन में सम्मिलित हुए, रावी के तट पर जहां १९३० के नववर्ष के प्रथम क्षणों में उस अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग की गई थी। देशभर में उसी के बाद

२६ जनवरी १९३० ई. को सर्वत्र स्वतन्त्रता दिवस मनाया गया एवं पूर्ण स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा ली गई। वे वहाँ नेहरूजी से भी मिले एवं स्वतन्त्रता आन्दोलन में कांग्रेस का साथ देने को सहमत हो गए। जे.पी. को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि भारत के कम्युनिस्ट लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में कहीं नहीं है एवं इस आन्दोलन को बुर्जुआ आन्दोलन एवं महात्मा गाँधी को बुर्जुओं का पिट्ठू कहकर निन्दा कर रहे हैं। जे.पी. का मार्क्सवादी मन शर्म से डूब गया।

६ माह के अन्दर उन्हें कांग्रेस का स्थायी मंत्री बना दिया गया एवं उनका साम्यवादी दर्शन स्वदेश प्रेम के ज्वार भाटे में विलीन हो गया।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के क्रम में जे.पी. अनेकों बार जेल गए। मीनू मसानी, आचार्य नरेन्द्र देव, राम मनोहर लोहिया, एम.एस. जोशी, रामवृक्ष बेनीपुरी एवं अच्युत पटवर्द्धन प्रभृति नेताओं के साथ मिलकर उन्होंने 'कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी' का गठन किया ताकि किसानों एवं मजदूरों को आकर्षित किया जा सके। ८ अगस्त १९४२ ई. को बम्बई के कांग्रेस अधिवेशन में 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पारित हुआ और व्यापक जनसंघर्ष का आह्वान किया गया। जे.पी. उस समय हजारीबाग सेन्ट्रल जेल में थे जहाँ उनसे भेद उगलवाने के लिए अंग्रेजों ने उन्हें घोर यातनायें दीं पर वे टस से मस नहीं हुए।

८ नवम्बर १९४२ को दीपावली के दिन जब जेल परिसर में दीपावली की धूम-धाम थी, जयप्रकाश एवं उनके कतिपय साथी जेल की १७ फीट ऊँची दीवार लाँघ कर भाग जाने में सफल हुए। जे.पी. भाग कर नेपाल चले गए एवं वहाँ गुरिल्ला संगठन बनाया। नेपाल सरकार ने इन्हें गिरफ्तार कर लिया किन्तु इनके साथियों ने जेल पर हमला कर इन्हें छुड़ा लिया। अन्ततः अमृतसर स्टेशन पर इन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया एवं १९ सितम्बर १९४३ को लाहोर जेल में कैद कर भीषण यातनायें दी गईं। बापू ने जे.पी. एवं लोहिया की रिहाई की मांग केबिनेट मिशन के सामने रखी जो उस समय भारत आया था। जनवरी १९४५ में इन्हें लाहोर से आगरा जेल में लाया गया और अन्ततः ११ अप्रेल १९४६ को आगरा जेल से रिहा किया गया।

१२ अप्रेल १९४६ ई. को ३१ महीने का कारावास भोग कर जे.पी. दिल्ली आए जहाँ उनका 'अगस्त क्रान्ति के हीरो' के रूप में भव्य स्वागत हुआ। वहाँ से वे पटना गए जहां २१ अप्रेल को बांकीपुर मैदान (गांधी मैदान) में उनका अभूतपूर्व अभिनन्दन हुआ। थैली भेंट की गई एवं राष्ट्रकवि दिनकर ने जे.पी. पर लिखी अपनी ओजस्वी अमर कविता का पाठ किया-

सेनानी करो प्रयाण अभय, भावी इतिहास तुम्हारा है।
ये नखत अमां के बुझते हैं, सारा आकाश तुम्हारा है।...

यह समय इतिहास का निर्णायक मोड़ था। कांग्रेस को सत्ता निकट आती लग रही थी, अतः उसके लिए अब समाजवादियों का कोई उपयोग नहीं रह गया था। जे.पी. ने इसे गहराई से अनुभव किया एवं देश भर के समाजवादी डॉ. लोहिया की अध्यक्षता में फरवरी १९४७ ई. में कानपुर में एकत्र आये। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में से 'कांग्रेस' शब्द हटा दिया गया एवं अब स्वतन्त्र रूप से बच गई अलग 'सोशलिस्ट पार्टी'। १५ अगस्त १९४७ ई. को भारत विभाजित होकर स्वतन्त्र हुआ– कांग्रेस ने सत्ता संभाली। १९५२ ई. में प्रथम आम चुनाव हुआ– समाजवादी पार्टी को भारी हार का सामना करना पड़ा। जे.पी. ने २९ दिन का पूना में आत्मशुद्धि हेतु उपवास किया एवं क्रमशः विनोबा के सर्वोदय एवं भूदान आन्दोलन की ओर झुकने लगे। १९ अप्रेल १९५४ ई. को बोधगया के सर्वोदय सम्मेलन में उन्होंने जीवनदान की घोषणा कर दी एवं वहीं शेखोदेवरा ग्राम में सर्वोदय आश्रम की स्थापना कर स्वयं को उसमें रमा दिया। १९५७ ई. में दूसरा आम चुनाव आया– इसके पूर्व ही समाजवादी पार्टी में फूट पड़कर दो टुकड़े हो गए – पार्टी में चरित्रवध एवं विघटन के कारण दुखी होकर जे.पी. ने अपने आप को राजनीति से एकदम अलग कर लिया एवं २१ दिसम्बर १९५७ को दलीय राजनीति से परित्याग की घोषणा कर दी।

१९५५ से लेकर १९७२ तक जे.पी. ने सर्वोदय के कार्यों के साथ-साथ देश की ज्वलन्त समस्याओं के हल करने में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई। कश्मीर समस्या के समाधान, नागालैण्ड में शान्ति स्थापना एवं नक्सली आन्दोलन की समाप्ति का भी प्रयास किया। १९७२ में चम्बल में ६५४ खूंखार डाकुओं ने जे.पी. के प्रभाव से हथियार छोड़कर सामान्य जीवन-यापन हेतु जे.पी. के सामने सार्वजनिक सभा में आत्मसमर्पण किया। यह अपने ढंग का एक अनूठा उदाहरण था। इस अवधि में जे.पी. ने यूरोप, मध्य पूर्व एशिया, अमेरिका, लंदन, मास्को इत्यादि के दौरे किए एवं सर्वोदय आन्दोलन के बारे में प्रमुख राजनेताओं के अलावा समाजशास्त्रियों एवं वैज्ञानिकों के बीच भी अपने विचार रखे। वे अब इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि लोकतंत्रीय अथवा अधिनायकवादी दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों में जनता की व्यापक भागीदारी के बिना राष्ट्रनिर्माण असंभव है। सर्वोदय आन्दोलन से वे इसी के बीज बो रहे थे।

१९६२ के चीनी आक्रमण को जे.पी. ने सैनिक एवं वैचारिक दोहरा आक्रमण बताया एवं देश में आई एकता की लहर पर खुशी जाहिर करते हुए कहा कि वैचारिक आक्रमण सैनिक आक्रमण से भी बड़ा खतरा है। १९६५ ई. में जनसेवा के कार्यों के लिए जे.पी. को प्रतिष्ठामूलक मैग्सेसे पुरस्कार से सम्मानित किया गया। जे.पी. की धर्मपत्नी प्रभावती देवी ने जे.पी. के अमेरिका में अध्ययन प्रवास के समय १९२९ में ही गांधीजी के आश्रम में रहते हुए आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले लिया था, पर वे जे.पी. के सब कार्यों में सदा सहभागी रहती थीं। १९७३ की १५ अप्रेल को कैंसर से उनका देहान्त हो गया एवं जे.पी. नितान्त अकेले रह गए।

१८ मार्च १९७४ को बिहार के दूर-दूर से आए युवक छात्रों ने अपनी माँगों की पूर्ति के लिए जिनमें शिक्षा सम्बन्धी माँगों के साथ-साथ महंगाई एवं बेकारी को रोकने जैसी माँग भी शामिल थी, सत्याग्रह भाव से बिहार असेम्बली को घेर लिया। आन्दोलन को बदनाम करने के लिए पटना में व्यापक लूट-पाट एवं अग्निकांड कराये गये एवं पुलिस फायरिंग के बाद पूरे शहर में कर्फ्यू लागू कर आतंक का साम्राज्य कायम कर दिया गया। सरकार की बंदूकों का मुँह एक बार खुला तो फिर बंद होने का नाम ही नहीं लेता था। संचालन समिति के लोग जे.पी. से मिले। दुखड़ा रोया एवं इस संकट के समय नेतृत्व करने का आग्रह किया। जे.पी. बीमार थे फिर भी स्थिति की गंभीरता को देखते हुए उन्होंने केवल 'मार्गदर्शन' करने की हामी भरी पर आगे अनेक घटनायें ऐसी घटीं जिसके कारण जे.पी. को पहले बिहार आन्दोलन एवं बाद में देशव्यापी आन्दोलन का नेतृत्व करना पड़ा। यहीं उनको छात्रों एवं जनता की ओर से 'लोकनायक' की उपाधि मिली। ८ अप्रेल को जे.पी. के नेतृत्व में सरकारी दमन के विरोध में लाखों सत्याग्रहियों का ऐतिहासिक मौन जुलूस निकला। तदनन्तर ५ जून को बिहार विधानसभा की विघटन की माँग के लिए एक करोड़ जन हस्ताक्षर के दस्तावेज के साथ लाखों लोगों के जुलूस का नेतृत्व करते जे.पी. ने राजभवन तक मार्च किया एवं उसी सन्ध्या को गांधी मैदान में ५ लाख की अभूतपूर्व भीड़ के सामने अपने भाषण में 'सम्पूर्ण क्रान्ति' करने का आह्वान किया।

युवाशक्ति का आह्वान करते हुए जे.पी. ने कहा कि यह संघर्ष केवल सीमित उद्देश्यों के लिए नहीं है, यह सम्पूर्ण क्रान्ति के लिए है। समाज से अन्याय व शोषण को अन्त करने के लिए एक नैतिक, शैक्षिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति करना है। नया बिहार बनाना है, अन्ततोगत्वा एक नया भारत बनाना है। ४ नवम्बर को छात्र आन्दोलन के प्रदर्शन के दौरान पुलिस की लाठी चार्ज से घायल होकर जे.पी. बेहोश हो गए। अगर नानाजी देशमुख एक निर्णायक लाठी को अपनी भुजा पर न झेलते तो उस दिन अंजाम ही दूसरा होता। जे.पी. ने इस बर्बरता पर टिप्पणी करते हुए कहा- 'विनाश काले विपरीत बुद्धि'।

इस अत्याचार के विरुद्ध ३-४-५ अक्टूबर को पूरा बिहार अकल्पनीय रूप से बन्द रहा। आन्दोलन अब शहरों से निकलकर गांवों में पहुंच गया एवं सारे राजनैतिक दल इसमें भागीदार हो गए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रेरित 'अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद' तो प्रारंभ से ही इस आन्दोलन की अगुवा रही थी। इस आन्दोलन के कारण राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से भी जे.पी. का घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित हुआ जो उत्तरोत्तर बढ़ता गया एवं जे.पी. ने संघ कार्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। अब आन्दोलन का फैलाव भी देशव्यापी हो गया। ६ मार्च १९७५ ई. को दिल्ली में जे.पी. के नेतृत्व में देश भर से आए लाखों लोगों का प्रदर्शन हुआ, फिर ५ जून को कलकत्ता में भी अभूतपूर्व प्रदर्शन हुआ।

इधर आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, उधर इलाहाबाद हाइकोर्ट में प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के विरुद्ध राजनारायण द्वारा दायर की गई याचिका पर १२ जून १९७५ को ऐतिहासिक फैसला सुनाते हुए न्यायमूर्ति श्री जगमोहन लाल सिन्हा ने श्रीमती गांधी के निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया। इससे राष्ट्रीय संघर्ष के इतिहास में एक नया मोड़ आ गया एवं सभी प्रतिपक्षी दल जे.पी. के नेतृत्व में जनता मोर्चा के रूप में संगठित हो गए तथा श्रीमती गांधी से पद छोड़ने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सत्याग्रह करने की घोषणा की। २५ जून को दिल्ली के रामलीला मैदान में एक विशाल सभा में जे.पी. ने घोषणा की कि हम ऐसी अवैध सरकार का बॉयकाट करते हैं। इस समय श्री चन्द्रशेखर के नेतृत्व में साठ-सत्तर कांग्रेसी सांसद जे.पी. के आह्वान पर जनता मोर्चा में आ गए। इसके खिलाफ श्रीमती गांधी ने २५ जून की रात्रि को आपातकाल घोषित कर क्रूर दमन चक्र चला दिया। पहली गिरफ्तारी जे.पी. की हुई एवं बाद में सभी विरोधी दल के नेता एवं कार्यकर्त्ता जेल में डाल दिए गए। लोकशाही की जगह तानाशाही ने ले ली। विरोध में खड़ी सभी संस्थाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया एवं समाचार पत्रों पर सेन्सर। संविधान में भी अवांछित संशोधन किया गया। जेल में जे.पी. का स्वास्थ्य गिर जाने से उन्हें १२ नवम्बर को पैरोल पर इलाज हेतु छोड़ा गया।

देश में लोकतन्त्र लौटाने के लिए श्रीमती गांधी पर देश, विदेश सभी ओर से दबाव बढ़ रहा था। गुप्तचरों ने चुनाव होने पर उन्हें विजयी होने की रपट दी। विरोधी पार्टियाँ सब तितर-बितर हो चुकी थीं और इधर चाटुकार जयगान में लगे हुए थे। अचानक १८ जनवरी १९७७ को श्रीमती गांधी ने मार्च में लोकसभा के चुनाव कराने की घोषणा कर दी। आपात स्थिति की उस भय की स्थिति के बाद अचानक चुनाव की घोषणा लोगों को एक अदृश्य स्वप्न जैसी ही लगी। देर न लगाते हुए जे.पी. ने २३ जनवरी को ही जनता पार्टी के निर्माण की घोषणा कर दी एवं कमजोरी की अवस्था में भी २५ जनवरी को दिल्ली आकर सभी नेताओं से मिलकर विचार-विमर्श किया। ६ फरवरी को रामलीला ग्राउण्ड में अभूतपूर्व सभा हुई, मानों सारी दिल्ली ही उमड़ पड़ी हो। जे.पी. ने अपने भाषण से लोगों में प्राण फूंक दिए। श्री मोरारजी देसाई एवं अटलबिहारी वाजपेयी ने जनता पार्टी के चुनाव अभियान का उद्घाटन किया। इसके एक दिन पूर्व ही श्रीमती गांधी ने अपने चुनाव अभियान का यहीं से श्रीगणेश किया था। लोगों को अन्तर समझ में आ रहा था। श्री जगजीवन राम ने भी मंत्रिमंडल से त्यागपत्र देकर 'कांग्रेस फार डेमोक्रेसी' नामक नए दल का गठन कर जनता पार्टी को सहयोग देने का आश्वासन दिया।

१६ से २० मार्च तक निर्वाचन सम्पन्न हुए। जनता पार्टी भारी बहुमत से विजयी हुई। उत्तरी भारत में कांग्रेस का सफाया हो गया। श्रीमती गांधी एवं उनके पुत्र संजय गांधी भी

पराजित हुए। २४ मार्च की प्रात: राजघाट पर शपथ समारोह में जे.पी. ने जनता पार्टी के नेताओं को गांधीजी के आदर्शों के अनुरूप राष्ट्रसेवा करने की शपथ दिलाई और श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व में नई टीम ने शासन का कार्यभार सम्हाला। पहली बार केन्द्र में गैर-कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ और जयप्रकाश की सम्पूर्ण क्रान्ति की इच्छा आंशिक रूप से पूर्ण हुई। जनता पार्टी ने लोकतन्त्र पर लगाये गए सभी बन्धन रद्द किए एवं देशवासियों ने पुन: स्वच्छन्द वातावरण में सांस लेना शुरू किया।

दीर्घकाल तक जनसंघर्ष में व्यस्त रहने के कारण उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरता गया, उनके गुर्दों ने काम करना बन्द कर दिया अत: उन्हें डायलिसिस पर रखा जाने लगा। इधर आगे चलकर जनता पार्टी के नेता व्यक्तिगत महत्वाकांक्षी के दलदल में उलझते ही गए एवं जे.पी. को स्वयं ऐसा लगने लगा जैसे बड़ी मेहनत से तैयार किया हुआ 'बाग उजड़ गया हो'। २२ मार्च १९७९ को उनकी मृत्यु का गलत समाचार प्रसारित हो गया एवं आश्चर्य की बात यह रही कि लोकसभा में उन्हें श्रद्धाजलि भी दे दी गई पर बाद में सच्चाई सामने आई तो देश ने कुछ राहत की सांस ली। अन्त में ८ अक्टूबर १९७९ को जीवन-मृत्यु से संघर्ष करते-करते लोकनायक ने महाप्रयाण किया। ९ अक्टूबर को पूरे राजकीय सम्मान के साथ पटना में उनका अन्तिम संस्कार किया गया। लोगों के शोक का कोई पारावार नहीं था। उनके असाधारण कार्य को इतिहास सदा स्वर्णाक्षरों में संजोये रखेगा। जन्मशती वर्ष पर उन्हें हमारा शत-शत नमन। ●

भारत की एकता और अखंडता के महान शिल्पी

डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी

६ जुलाई भारत केशरी डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी का जन्मदिन है। उन्होंने १९०१ ई. में कलकत्ता में सर आशुतोष मुखर्जी एवं जोगमाया देवी के परिवार में जन्म लिया। सर आशुतोष एक प्रकाण्ड विद्वान, उत्कृष्ट देशभक्त एवं निर्भीक व्यक्ति थे तथा जोगमाया देवी परम धार्मिक एवं श्रद्धालु महिला थी। अत: ऐसे गुणी माता-पिता के सुपुत्र के नाते निर्भयता, विद्वता, एकनिष्ठ राष्ट्रभक्ति, स्वधर्म गौरव, नीर-क्षीर विवेक दृष्टि एवं चुनौतियों से पंजा लड़ाकर आगे बढ़ना उन्हें बहुत कुछ विरासत में मिला था। ये विशेषतायें शिक्षा, सामाजिक एवं राजनैतिक सभी क्षेत्रों में उनके जीवन में अधिकाधिक पुष्ट होकर परिलक्षित होती रही। उच्चतम मानवीय गुणों का उनमें अद्‌भुत समावेश था। उनके जीवन में न तो किसी प्रकार की रंचमात्र संकीर्णता थी न प्रगतिशील दिखने का पाखंड। अपने देश, धर्म एवं सांस्कृतिक विरासत का सच्चा अभिमान लेकर वे अपने जीवन पथ पर बढ़ते गए एवं विचारपूर्वक किए गए संकल्प के लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करना उनके स्वभाव का अंग था। कश्मीर के प्रश्न पर उन्होंने अपने जीवन को दाँव पर लगाकर इसको प्रमाणित किया। पिछले हजार वर्ष के इतिहास में गुरु अर्जुनदेव जी के बाद कश्मीर के प्रश्न पर यह दूसरी बड़ी शहादत थी। डा. मुखर्जी की शहादत के बाद ही जम्मू कश्मीर अनेक बातों में भारत के संवैधानिक दायरे में आया फिर भी धारा ३७० अभी तक भावात्मक एकता में बड़ी बाधा बनकर खड़ी है एवं हिन्दू होने के कारण मात्र से ही बड़ी संख्या में कश्मीरी पंडित अपने ही देश में, अपने ही घरों से आज भी निर्वासित हैं। शायद कोई नया युद्ध ही इस अनिश्चय को भी मिटा देने में सहयोगी हो।

डा. मुखर्जी की राजनैतिक पटुता, परिश्रम एवं सूझबूझ का ही परिणाम है कि आजका पश्चिम बंगाल एवं पूर्वी पंजाब (जिसमें आज के पंजाब, हिमाचल एवं हरियाणा भी शामिल है) भारत के अंग बने हुए हैं अन्यथा विभाजन की मूल योजना के अंतर्गत पूरा पंजाब एवं पूरा बंगाल ही पाकिस्तान में शामिल होता। डा. मुखर्जी तो देश विभाजन के ही विरोधी थे परंतु जब उन्होंने यह देखा कि अपने पूना संकल्प के द्वारा कांग्रेस ने मुस्लिम बहुल प्रान्तों को अलग होने की छूट का अधिकार स्वीकार कर विभाजन को अपरिहार्य मान लिया एवं केबिनेट मिशन की भारत को स्वाधीनता देने की स्कीम में पूरा पंजाब एवं पूरा बंगाल पाकिस्तान

को सौंपने की योजना बन गई तो डा. मुखर्जी इस काम में जुट गए कि इन दोनों प्रान्तों के हिन्दू बहुल क्षेत्रों को पाकिस्तान में जाने से कैसे रोका जाए ? डा. मुखर्जी की योजना को विफल करने के लिए ही मुस्लिम लीग ने १६ अगस्त १९४६ ई. को 'डायरेक्ट एक्शन' के द्वारा व्यापक कत्लेआम करके अपनी मांग मनवाने का प्रयत्न किया पर डा. मुखर्जी के दिशा निर्देश में राष्ट्रवादी लोगों का आन्दोलन इतना प्रबल हो उठा कि अंततोगत्वा ब्रिटिश सरकार को इन दोनों प्रान्तों के हिन्दू बहुल क्षेत्रों को पाकिस्तान की योजना से अलग रखना ही पड़ा, अर्थात् ये हिन्दुस्थान के भाग बनकर ही रहे। स्वाधीन भारत की पीढ़ियां डा. मुखर्जी के इस महान अवदान के लिए उनकी चिरऋणी रहेगी। डा. मुखर्जी कहा करते थे कि कांग्रेस ने देश का विभाजन कराया, मैंने पाकिस्तान का विभाजन कराया। हम बंगालवासी इसकी सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि अगर डा. मुखर्जी ने उस समय यह दूरदृष्टि नहीं दिखाई होती तो आज हम कहां होते ?

डा. मुखर्जी मूलत: शिक्षा क्षेत्र के व्यक्ति थे। हर परीक्षा में शानदार परिणाम लाकर उन्होंने अपनी शैक्षिक प्रतिभा प्रकट की थी। इसी प्रतिभा के कारण सन् १९३४ ई. में मात्र तैंतीस वर्ष की उम्र में उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय जैसे बड़े विश्वविद्यालय का (जिसके अन्तर्गत वर्तमान उड़ीसा एवं बिहार भी शामिल थे) उपकुलपति बनाया गया। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण सुधार किए। परीक्षा पद्धति एवं पाठ्यक्रम में व्यापक संशोधन किया, फेल होने वाले छात्रों के लिए कालेज में बिना प्रवेश लिए परीक्षा देने की पद्धति प्रारम्भ की, छात्राओं के लिए अलग पाठ्यक्रम योजना बनाई तथा अध्यापकों के लिए रिफ्रेशर कोर्स की नींव डाली। छात्रों के लिए सैनिक शिक्षा भी उन्होंने ही प्रारम्भ कराई।

इस पद पर वे १९३८ ई. तक कार्यरत रहे। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट् एवं काशी विश्वविद्यालय ने उन्हें एल.एल.डी की उपाधि देकर सम्मानित किया। किन्तु देश की राजनैतिक परिस्थिति उन्हें राजनीति में और अधिक सक्रिय होने के लिए आह्वान कर रही थी। वैसे तो वे १९२८ ई. से ही विश्वविद्यालय क्षेत्र के विधान परिषद के बार-बार सदस्य बनते रहे पर १९३७ ई. के पूर्व तक शिक्षा क्षेत्र में ही उनकी रुचि अधिक थी। १९३७ ई. में कम्यूनल एवार्ड पर आधारित नई विधान सभाओं के चुनाव हुए। इसी में विभाजन के बीज निहित थे। सरकार क्रांतिकारियों से घबराकर हिन्दू एवं मुसलमानों में फूट डालकर स्वाधीनता की मांग को दबाना चाहती थी। अत: मुस्लिम लीग को सब प्रकार से सहायता कर हिन्दुओं को दबाने की नीति पर चल रही थी। कांग्रेस विचित्र व्यामोह में फंसी हुई थी। डा. मुखर्जी इसे देश के भविष्य के लिए घातक मानते थे। चुनाव में कुल २५० सदस्यों में डा. मुखर्जी सहित अस्सी हिन्दू ही कांग्रेस की टिकट पर जीत कर आये। मुसलमान बहुमत में थे पर मुसलिम लीग और फजलुल हक की कृषक प्रजा पार्टी में बंटे हुए थे। कांग्रेस चतुराई

से काम लेती तो कृषक प्रजा पार्टी के साथ मिलकर गैर लीगी मंत्रीमंडल बन सकता था पर वैसा नहीं हुआ। लीगी मंत्रीमंडल बनते ही उन्होंने ऐसे अनेक कानून पास किए जिससे हिन्दुओं के आत्म सम्मान को गहरी ठेस लगी एवं शिक्षा क्षेत्र में भी डा. मुखर्जी द्वारा किए गए सभी सुधारों पर पानी फिर गया। अन्ततोगत्वा कांग्रेस की निष्क्रियता से ऊबकर डा. मुखर्जी ने फजलुल हक के साथ मिलकर लीगी सरकार को गिराकर नई सरकार बनाई एवं वे स्वयं १९४१ ई. में उसमें वित्तमंत्री भी बने।

यह उनकी राजनैतिक पटुता का नमूना है। नई सरकार में डा. मुखर्जी एक तरह से मार्गदर्शक ही बने हुए थे। जब कांग्रेस के नेताओं को गिरफ्तार किया गया तो सरकार में होते हुए भी उन्होंने ब्रिटिश सरकार का सक्रिय विरोध किया। उसके बाद ब्रिटिश सरकार की नीति के विरोध में १९४२ ई. में उन्होंने बंगाल मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया। १९३९ ई. में ही वे वीर सावरकर के सम्पर्क में आकर हिन्दूमहासभा के अखिल भारतीय उपाध्यक्ष बन चुके थे।

१९४३ ई. में बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। बहुतांश में यह मानवकृत था। अंग्रेज सरकार बंगाल के लोगों को क्रान्तिकार्यों में लिप्त होने की सजा देना चाहती थी। इस भयावह परिस्थिति में डा. मुखर्जी के अथक प्रयत्नों से लाखों लोग काल के मुंह में जाने से बचे। इस समय उनका अद्भुत मानवीय स्वरूप प्रकट होकर सामने आया। १९४५ ई. में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर ब्रिटेन में सत्ता परिवर्तन हुआ एवं भारत को विभाजित कर स्वाधीन करने का निर्णय हो गया। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डा. मुखर्जी ने इस परिस्थिति में पंजाब एवं बंगाल के हिन्दू बहुल क्षेत्रों को पाकिस्तान की रचना से बाहर निकालने में अपनी ताकत लगाई एवं वे उसमें सफल हुए। १९४६ ई. में अन्तरिम सरकार बनी। डा. मुखर्जी भी विधान निर्मात्री सभा के लिए चुन लिए गए एवं १५ अगस्त १९४७ ई. को स्वाधीनता प्राप्त होने पर गांधी जी के आग्रह पर प्रथम राष्ट्रीय सरकार में सम्मिलित हुए एवं उद्योग तथा वाणिज्य मंत्री का दायित्व स्वीकार किया। यद्यपि उनकी रुचि का तो शिक्षा विभाग था पर जो काम जिम्मा आया उसी में वे निष्ठापूर्वक लग गए।

विदेशी सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र में भारत को एकदम पंगु बना रखा था। अत: देश के नवनिर्माण के लिए औद्योगिक उन्नति बहुत आवश्यक थी। उद्योग मंत्री के रूप में उन्होंने सिन्दरी उर्वरक कारखाना, चित्तरंजन लोकोमोटिव कारखाना एवं हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट्स फैक्ट्री जैसे विशाल कारखाने खड़े कर देश के औद्योगिक विकास में एक क्रान्ति का श्री गणेश किया। अपने ढाई वर्ष के कार्यकाल में उन्होंने बहुत से छोटे-छोटे उद्योगों को भी प्रचुर प्रोत्साहन दिया एवं सर्वोपरि 'उद्योग नीति' निर्धारित की।

कालान्तर में पाकिस्तान से आए हिन्दू शरणार्थियों के मसले एवं कश्मीर के मसले

पर पं. नेहरू से उनके मतभेद गहराते ही गये। १९५० ई. में हुए नेहरू - लियाकत समझौते के मसौदे से तो यह स्थिति चरम सीमा तक पहुंच गई और उन्होंने मंत्रिमंडल से त्यागपत्र दे दिया। इस समय सरकार से अलग होकर बाहर रहकर नेहरू की नीतियों का विरोध करना ही उन्हें उचित जान पड़ा। १९ अप्रैल १९५० ई. को इस विषय पर संसद में दिया गया उनका वक्तव्य आज भी भारत-पाक सम्बन्धों को दिग्दर्शित करने वाला महत्वपूर्ण दस्तावेज है। उनके त्यागपत्र का बहुत प्रभाव हुआ एवं जब नेहरू-लियाकत समझौता सही हुआ तो उसमें पहले जो भारत में विधायिका के निर्वाचन में एवं सेवाओं में मुसलमानों के लिए आरक्षण की बातें थीं वे निकाल दी गयी। दुःख का विषय है कि आज पुनः यह सोच हमारे राजनीतिज्ञों के दिमाग पर छा रही है।

मंत्रिमंडल से अलग होने के बाद अक्टूबर १९५० ई. में उन्होंने अपने विचारों का प्रभावी ढंग से प्रचार करने हेतु 'भारतीय जनसंघ' नामक राष्ट्रवादी दल की स्थापना की जिसका रुपांतर आज की 'भारतीय जनता पार्टी' है। इस कार्य में उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का भी सहयोग मिला। १९५२ ई. के प्रथम निर्वाचन में वे अपने दो सहयोगियों के साथ लोकसभा में चुने गए एवं कई विपक्षी दलों को मिलाकर एक सशक्त विपक्ष स्थापित किया एवं उन्हें विपक्षी नेता के रूप में स्वीकार किया गया। अपनी गहरी सूझबूझ एवं संसदीय प्रवीणता की उन्होंने सब पर छाप छोड़ी।

इधर जम्मू में शेख अब्दुल्ला की तानाशाही एवं भारतविरोधी हरकतों के विरुद्ध व्यापक सत्याग्रह चल रहा था। डा. मुखर्जी जम्मू गए एवं जम्मू के लोगों की एक देश में 'एक विधान, एक प्रधान एवं एक निशान' की बात उन्हें उचित लगी। उस समय जम्मू कश्मीर जाने के लिए भारत के सुरक्षा मंत्रालय से परमिट लेना पड़ता था।

डा. मुखर्जी इसे अपमानजनक समझते थे। उनका कहना था कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारत का एक अभिन्न अंग है अतः भारतीय नागरिक और संसद-सदस्य होने के नाते सारे देश में कहीं भी आना-जाना उनका मौलिक संवैधानिक अधिकार है। भारत भर में इसके विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व डा. मुखर्जी ने किया एवं ११ मई १९५३ ई. को वे बिना परमिट लिए जम्मू गए। रास्ते में गुरदासपुर के जिला मजिस्ट्रेट का उन्हें तार मिला जिसमें बताया गया कि भारत सरकार ने उन्हें बिना परमिट जम्मू-कश्मीर राज्य में प्रवेश करने की अनुमति दे दी है। इससे डॉ. मुखर्जी के साथ जा रहे नेताओं जिनमें वैद्य गुरुदत्त, श्री बलराज मधोक एवं श्री टेकचन्द शामिल थे, उनकी चिन्ता थोड़ी कम हुई एवं डॉ. मुखर्जी के कहने से बलराजजी एवं गुरुदत्तजी दिल्ली लौट आये। यह किसी को भी अन्दाज नहीं हुआ कि इस तार के बहाने एक बड़ा षड़यन्त्र पक रहा है। श्री बलराज मधोक अपनी पुस्तक 'जिन्दगी का सफर' के पृष्ठ ६४ पर आगे का जो वर्णन करते हैं, वह बहुत स्तम्भित एवं हैरान करने वाला है-

"दूसरे दिन दिल्ली में समाचार मिला कि पठानकोट में गुरदासपुर का जिला मजिस्ट्रेट डॉ. मुखर्जी को मिला और वह माधोपुर में रावी नदी पर बने पुल तक उनके साथ गया। पुल का आधा भाग पार करने पर ज्यों ही उन्होंने जम्मू-कश्मीर राज्य में पांव रखा, अब्दुल्ला सरकार की ओर से उन्हें और उनके साथियों को बन्दी बना लिया गया और सीधे श्रीनगर ले जाया गया।

जम्मू-कश्मीर सरकार द्वारा उन्हें गिरफ्तार करना सरासर गलत था। परमिट प्रणाली भारत सरकार ने लागू की थी। उसका उल्लंघन करने पर वह ही कार्यवाही कर सकती थी। डॉ. मुखर्जी ने जम्मू-कश्मीर का कोई कानून या नियम नहीं तोड़ा था। उनको जम्मू-कश्मीर के अन्दर पकड़ना एक षड़यन्त्र था।"

देश ने आगे चलकर २४ जून की प्रात: हतप्रभ होकर जब यह समाचार सुना कि २३ जून १९५३ ई. को रात में श्रीनगर के अस्पताल में डॉ. मुखर्जी का अचानक निधन हो गया तो उस षड़यन्त्र की बात समझ में आई। श्री मधोक उसी पुस्तक में आगे लिखते हैं कि डॉ. मुखर्जी की रिहाई के लिए बैरिस्टर उमाशंकर त्रिवेदी ने कश्मीर हाईकोर्ट में 'हेबियस कारपस' की याचिका प्रस्तुत की थी जिसकी सुनवाई २३ जून को हो चुकी थी और २४ जून को ही उसपर निर्णय आना था। इसी बीच घटी एक घटना का उल्लेख श्री मधोक करते हैं -

"अस्पताल में डाक्टर मुखर्जी का उपचार करने वाली नर्स के अनुसार रात को दस बजे डाक्टर अलीजान ने डॉ. मुखर्जी को एक इंजेक्शन दिया था। उस नर्स के अनुसार डॉ. मुखर्जी ने डाक्टर अलीजान को कहा था कि उनकी तबियत ठीक है और वे किसी दवाई या इंजेक्शन की आवश्यकता महसूस नहीं करते, परन्तु अलीजान ने इंजेक्शन देने का आग्रह किया। उस इंजेक्शन के बाद डॉ. मुखर्जी की तबियत एकदम खराब होगई और एक घंटा बाद उन्होंने दम तोड़ दिया।" इससे यह लगता है कि उनकी मृत्यु स्वाभाविक रूप से नहीं हुई।....

सारा देश इस दुखद समाचार से स्तब्ध रह गया। आश्चर्य तो इस पर हुआ कि पं. नेहरू ने डॉ. मुखर्जी की माताजी एवं संसद सदस्यों द्वारा की गई उनकी मृत्यु की न्यायिक जांच की मांग भी अस्वीकार कर दी। उनकी रहस्यमयी मृत्यु पर आज भी पर्दा पड़ा हुआ है।

बाद में पं. नेहरू ने परिस्थितियों के दबाव में शेख अब्दुल्ला को हटाकर जेल में डाल दिया एवं परमिट प्रणाली भी समाप्त कर दी पर ३७० धारा से वे अपना मोहभंग नहीं कर पाये जिसका दुष्परिणाम आज भी यह राष्ट्र भोग रहा है। डा. मुखर्जी ने अपना बलिदान देकर भारत माता के मुकुट कश्मीर को अलग होने से बचा लिया। अगर सब भारतवासी मिलकर आज भी उनके उस अधूरे कार्य को पूरा करने की दिशा में बढ़ें तो यही उनके जन्मदिवस पर सच्ची श्रद्धांजलि होगी। ●

प्रतिकार बिना नगराज शान्ति नहीं पाएगा

लक्ष्मण रेखा को लांघ शत्रु घर में आया,
हिमगिरि की निर्मल शान्ति उड़ा ले भागा है।
समझौते शान्ति-पत्र की भाषा छोड़ आज,
दिखला दो धनुष राम का फिर से जागा है।।

प्रतिरक्षा की बातें तो पंचशील तक थीं,
प्रतिकार बिना नगराज शान्ति नहीं पाएगा।
प्रतिकार! आज प्रतिकार हमारा प्रथम लक्ष्य,
उस बिना न साधुवाद जग में जी पाएगा।।

झुक गया आज यदि देश क्रूरता के आगे,
अपराधी को यदि दण्ड नहीं दे पाएगा।
एकाध पीढ़ी की बात नहीं सोचो साथी,
आनेवाला इतिहास सदा झुक जायेगा।।

इसलिए तुम्हें सजना होगा फिर से जग कर,
दिखलाना होगा परम्परा क्या यहाँ रही।
होते हैं बुद्ध और गाँधी यह ठीक यहाँ,
पर विक्रम और जोरावरसिंह की कमी नहीं।।

सदियों से मौका आया है बलिदानों का,
गत सारी भूलों को परिमार्जित करने का।
चव्हाण!* सीख दो, चौंक उठे चीनी पीढ़ी,
इतिहास पलट जो देखें इन परिणामों का।।

भारत से मोल शत्रुता लेना क्या होता
यह बिना दिखाए देश न अब बच पाएगा।
इस कारण अब प्रतिकार हमारा प्रथम लक्ष्य,
प्रतिकार बिना नगराज शान्ति नहीं पायेगा।। ●

* भारत के तत्कालीन प्रतिरक्षामंत्री

संगठन कौशल, सादगी और सहज स्नेह की त्रिवेणी सुन्दरसिंहजी भंडारी

एक कुशल संगठक के रूप में विद्यार्थीकाल से ही अतुलनीय रहे हैं श्री सुन्दर सिंह भंडारी। कानपुर में १९३७ ई. में कॉलेज में अध्ययन करने से लेकर बिहार प्रान्त के माननीय राज्यपाल नियुक्त होने तक लगभग ६ दशकों की यह यात्रा अनवरत अखंड चलती रही। उत्तर भारत में राजस्थान से लेकर बंगाल तक के सम्पूर्ण क्षेत्र में उनके द्वारा गढ़े गए कार्यकर्त्ताओं की टोली ने स्वीकृत ध्येय हेतु सब कठिनाइयों का सामना करते हुए एवं सब विघ्न बाधाओं को तुच्छ गिनते हुए हिन्दू विद्वेष से सरोबार भारत की राजनीति में भारतीय जनसंघ की ऐसी सुदृढ़ नींव रखी जिसने भारत की राजनीति में गुणात्मक परिवर्तन किया एवं कालचक्र को मोड़कर नई दिशा दी। भंडारीजी १९३७ ई. से ही माननीय पण्डित दीनदयालजी के साथी सहयोगी रहे, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक बने एवं भारतीय जनसंघ के गठन के तुरन्त बाद राजस्थान प्रदेश के प्रथम महामंत्री बने, फिर राष्ट्रीय मंत्री बने एवं कालीकट अधिवेशन में पं. दीनदयालजी के अध्यक्ष होने पर आप पर संगठन के महामंत्री का गुरुतर दायित्व आया। कार्य की दृष्टि से बहुत पीछे एवं वामपंथी विचार धारणा से आक्रान्त बंगाल प्रान्त का दायित्व भी प्रभारी के नाते आपके ही जिम्मे आया। आपने सभी जिलों में व्यापक प्रवास कर राजनैतिक दृष्टि से कार्यकर्त्ताओं का योग्य मार्गदर्शन करते हुए काम की सुदृढ़ नींव रखी।

११ फरवरी १९६८ ई. को पं. दीनदयालजी उपाध्याय की हत्या से उत्पन्न नैराश्य में कार्यकर्त्ताओं की भग्न आशा भंडारीजी के व्यक्तित्व पर जाकर टिकी। लोगों ने तब भंडारीजी में दीनदयालजी की प्रतिमूर्ति देखी। कार्यकर्त्ताओं के लिए संगठन कौशल, सादगी एवं सहज स्नेह की त्रिवेणी थे भंडारीजी। एक कुशल कुम्हार की तरह पात्र गढ़ते समय वे कड़ाई करते हुए दिखते थे पर भीतर से स्नेह का हाथ देकर हर कार्यकर्त्ता को सहारा भी देते थे।

जिस दिन पं. दीनदयालजी की हत्या हुई, भंडारीजी कलकत्ता में ही थे। बंगाल प्रान्त की जनसंघ की कार्यसमिति की बैठक हरियाणा भवन में चल रही थी। अचानक किसी कार्यकर्त्ता ने टेलीप्रिन्टर पर आया यह दुःसंवाद भंडारीजी को बताया। सबने आश्चर्य चकित होकर तब देखा कि ऊपर से बहुत कड़े लगने वाले भंडारीजी बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे। सभा स्थगित की गई एवं श्रद्धांजलि के बाद उसी दिन भंडारीजी मुगलसराय के लिए रवाना हुए।

जनसंघ में संगठन के साथ-साथ संविधान संशोधन का कार्य भी भंडारीजी के जिम्मे ही था। १९८० ई. में भारतीय जनता पार्टी के निर्माण के बाद भी भंडारीजी उसी तरह दोनों कार्य देखते रहे। भाजपा गठन के बाद भी बंगाल का कार्य बहुत दिनों तक उन्हीं के जिम्मे था। यद्यपि अब अनुशासन के मामले में थोड़ी ढिलाई बरती जाने लगी थी फिर भी भंडारीजी के निर्णयों में वही बात बनी रही, क्योंकि कार्यकर्त्ताओं के साथ उनका जमीनी सम्पर्क था एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा सभी अनुसांघिक क्षेत्रों के महत्त्वपूर्ण लोगों के साथ थे मधुरतम सम्बन्ध।

उत्तर बंगाल में दार्जिलिंग जिले में सिलिगुड़ी ही महत्त्वपूर्ण केन्द्र था एवं अर्थ संग्रह भी कलकत्ता के बाद वहीं से ज्यादा होता था। सिलिगुड़ी के नगर के अध्यक्ष ने जो सम्भवत: दूसरे दल से भाजपा में आये थे, अपना निर्णय लिया कि सिलिगुड़ी में एकत्र धन केवल सिलिगुड़ी हेतु ही खर्च होगा एवं वे उसपर अड़ गये। भंडारीजी को इसका पता चला तो उन्होंने जिस भाषा में, वे कार्यकर्त्ता समझ सकते थे उसी में उनको ठीक प्रकार समझा दिया एवं तब फिर कभी ऐसा झंझट नहीं हुआ।

१९८२ ई. में बंगाल के बिधानसभा के निर्वाचन थे। जोड़ाबागान केन्द्र पर पहले स्वनामधन्य हरिपद भारती विजयी हुए थे, जो बंगाल भाजपा के अध्यक्ष थे। उनके निधन के कारण इस सीट पर मुझे चुनाव लड़ाने की कार्यकर्त्ताओं की इच्छा बनी। मैं उन दिनों राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कलकत्ता महानगर का बौद्धिक प्रमुख था एवं राजनैतिक कार्य में मेरी कोई रुचि नहीं थी। एक माह पूर्व ही मेरे १८ वर्षीय पुत्र का अकस्मात निधन हो गया था, अत: मन भी ठीक नहीं था पर भंडारीजी ने जब कहा कि मुझे ही यह निर्वाचन लड़ना होगा एवं संघ के अधिकारियों से वे इस सम्बन्ध में बात कर लेंगे तो उनकी बात को उस परिस्थिति में भी मैं टालने की हिम्मत नहीं जुटा पाया। ऐसी ही बात बाद में प्रान्तीय अध्यक्षता को लेकर तत्कालीन दूरसंचार राज्यमंत्री के साथ भी घटी। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री प्रान्तीय अध्यक्ष थे। उनकी कार्यकाल की दो अवधि समाप्त हो जाने की कारण वे दुबारा अध्यक्ष नहीं बन सकते थे अत: नये अध्यक्ष की खोज प्रारम्भ हुई। राज्य के पूर्व-उपाध्यक्ष एवं वरिष्ठ नेता श्री हरिप्रसन्न मिश्र को बात करके श्री तपन सिकदर ने तैयार भी किया पर अनेक कार्यकर्त्ता उस समय की परिस्थिति में श्री तपन सिकदर को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। गुत्थी उलझ गयी। अन्त में श्री भंडारजी ने निर्णय दिया कि श्री तपन सिकदर ही अध्यक्ष बनेंगे तो सबको बात मान लेनी पड़ी। ऐसे एक नहीं, अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया जा सकता है। मुख्य बात यह थी कि उनकी बात सब कार्यकर्त्ता शिरोधार्य करते थे।

बिहार के राज्यपाल बनने के बाद भी उनको तनिक भी पद का अहंकार छू तक नहीं गया। बंगाल भाजपा के पूर्व अध्यक्ष श्री सुकुमार बनर्जी कहते हैं कि बिहार जाने पर जब

वे एवं उनके दो सम्बन्धी राजभवन में भंडारीजी से मिलने गये तो जिस आत्मीयता से भंडारीजी उनसे मिले वह अविस्मरणीय था। बाद में गुजरात के राज्यपाल के रूप में भी वे वैसे ही बने रहे, रहन-सहन में सादगी, काम में दृढ़ता एवं सबके प्रति सहज स्नेह। ऐसे लोग आजकल कहां हैं पर कार्यकर्त्ताओं के लिए ऐसे ही लोग प्रेरणा स्रोत बनते हैं। इनके जीवन को ही देखकर आज की अघोरी राजनीति में भी सुकून मिलता है। २००१ ई. में मेरे गाँव छोटीखाटू में वहां के पुस्तकालय द्वारा दिये जाने वाले वार्षिक पं. दीनदयाल उपाध्याय साहित्य सम्मान में प्रधान अतिथि के नाते भंडारीजी पधारे, ऐसी सभी कार्यकर्त्ताओं की इच्छा बनी तो मैंने उनसे सम्पर्क किया। उस दिन सायंकाल कहीं अन्यत्र जाने का उनका पहले से ही कार्यक्रम बना हुआ था पर मेरे निवेदन को स्वीकार कर वे हेलीकोप्टर से छोटीखाटू के प्रात:काल के कार्यक्रम में २ घन्टे के लिए पधारे एवं महाकवि गुलाब खंडेलवाल को सम्मानित कर गांव का गौरव बढ़ाया और मेरे स्नेह की प्रतिपालना की।

राज्यपाल से निवृत्ति के बाद उनका स्वास्थ्य बराबर नहीं रहा, घुटनों की तकलीफ काफी बढ़ गई। इसके बावजूद वे लोक कल्याण के कार्य करते रहे एवं कार्यकर्त्ताओं का उत्साह बढ़ाते रहे। भंडारीजी ने राष्ट्रसेवा का कठिन व्रत लेकर न गृहस्थी बसाई, न परिग्रह किया- समाज एवं राष्ट्र के शिव को ही अपना शिव माना। आज भी जब-जब दीनदयालजी की याद आती है, भंडारीजी का चेहरा भी सामने आ जाता है। ●

अभिनव ज्योतिपुञ्ज भँवरलालजी मल्लावत

निष्काम कर्मयोगी

जिन महापुरुषों को जन्म देकर माँ सपूती होने का गर्व कर सकती है ऐसे ही सत्पुरुषों की मणिमाला के एक उज्ज्वल रत्न थे श्री भँवरलालजी मल्लावत (अग्रवाल)। पुरुषों की श्रेणी के बारे में विवेचन करते हुए श्री भर्तृहरि ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिशतक में लिखा है-

एते सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थात् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।।

अर्थात् जो अपना स्वार्थ न बिगड़ने तक परहित करते हैं, वे साधारण कोटि के पुरुष एवं जो स्वार्थ की हानि करके भी परहित करते हैं वे 'सत्पुरुष' कहे जाते हैं।

परन्तु श्री भंवरलाल जी तो इस श्रेणी को भी सहज ही पार करके गीता के 'निष्काम कर्मयोगी' ही बन गए थे। उनके पूरे जीवन का प्रत्येक क्षण अनवरत रूप से कर्मयज्ञ को समर्पित था- 'चर्रवेति-चरैवेति' की उक्ति की मानो वे साकार प्रतिमा बन गए थे।

सहयोगी, सखा और मार्गदर्शक

मनुष्यों के वे बड़े पारखी थे एवं छोटे से लेकर बड़े तक सब को काम में कैसे नियोजित किया जाए, इसके वे मर्मज्ञ थे। अपने सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों का वे केवल हित-चिन्तन ही नहीं सतत् मार्गदर्शन भी करते थे। उनसे मिलने वालों में सब श्रेणी एवं वर्ग के लोग रहते थे। विद्यार्थी उनके पास आर्थिक असुविधा, प्रवेश एवं रहने के स्थान की कठिनाई की समस्या लेकर आते, भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्यरत सामाजिक एवं राजनैतिक कार्यकर्ता अपने-अपने कर्मक्षेत्र की कठिनाइयों का व्यावहारिक समाधान उनसे चाहते, तो सार्वजनिक संस्थाओं से सम्बन्धित अधिकारी योग्य कार्यकर्त्ताओं की उनसे मांग करते रहते। धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक या सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों के कार्यकर्त्ताओं में वे अपनी कर्म कठोरता एवं सूझबूझ के कारण एक विशेष श्रद्धा का स्थान रखते थे एवं इन क्षेत्रों के छोटे से छोटे एवं बड़े से बड़े कार्यकर्त्ताओं के बीच वे एक सहज, पर बलवान कड़ी के रूप में देखे जाते थे।

कलकत्ता में आज भी सैंकड़ों व्यक्ति ऐसे हैं जिनको उन्होंने काम पर लगाया। कार्यकर्त्ताओं के सुख-दुःख की उनसे अधिक चिन्ता करने वाला शायद ही कोई हो। हर

असुविधा के समय कार्यकर्ता उन्हें अपने निकट पाते। बीमारी हो या शादी-विवाह, सारी बातों की जानकारी प्राप्त कर योग्य व्यवस्था कर लेने तक उन्हें चैन नहीं पड़ता था। कलकत्ता जैसे शहर के व्यस्त जीवन में इस बात की कल्पना तक से आश्चर्य हो सकता है पर यह अनुभव हजारों लोगों का है। ऐसा कर पाना उनके लिए सहज स्वभाव का अंग बन गया था और यह क्रम कोई थोड़े काल-खण्ड के लिए चला हो ऐसा नहीं, यह उन्होंने अपना पार्थिव शरीर त्यागने तक निभाया। मृत्यु के पूर्व की डेढ़ वर्ष की कैंसर जैसी प्राणघातक बीमारी भी इसका अपवाद नहीं बन सकी। उनका यही क्रम चलता देख कर डॉक्टरों ने मिलने के लिए आने वालों पर रोक लगा दी, लोगों को बाहर से लौटा देने की व्यवस्था की गई पर वे स्वयं फोन करके लोगों को बुला लेते एवं भिन्न-भिन्न संस्थाओं के कार्यक्रमों, भावी योजनाओं पर सलाह करके अपना परामर्श देते। उनका कहना था कि जब जाना ही तय है तो जो कुछ समय हाथ में है उसका पूरा-पूरा उपयोग किया जाए।

अपनी बीमारी की आरंभिक जांच पड़ताल एवं उपचार हेतु वे कलकत्ता के 'बेल-व्यू' अस्पताल में भरती थे, बाहर जाने पर रोक थी पर जब उन्हें अचानक यह सूचना मिली की बड़ाबाजार अंचल के एक कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री इन्दरराज गोयल का असामयिक देहावसान हो गया, तो वे छटपटाने लगे एवं डॉक्टरों से विशेष अनुमति लेकर उनकी पत्नि व बच्चों से मिलकर उनको धैर्य बंधाकर पुनः अस्पताल आए। उनके इस व्यवहार से कार्यकर्त्ताओं को जो शिक्षा मिली, उसे शब्दों में उतार पाना कठिन है।

लोकेषणा से दूर

किन्तु इस विराट सम्पर्क एवं अटूट स्नेह बन्धन को उन्होंने व्यक्तिगत हित के बजाय समाज हित में ही नियोजित किया। उनके सम्पर्क में आने वाले सभी व्यक्तियों के हृदय में वे सार्वजनिक कार्य करने का ही बीजारोपण करते-उन्हें किसी न किसी काम में जोड़ते एवं आवश्यक होने पर कार्यकर्त्ताओं से कड़ाई से भी पेश आते। वे कहा करते कि व्यक्तिगत कार्यों की अपेक्षा सार्वजनिक कार्यों में अधिक जिम्मेदारी आवश्यक है अतः इसमें प्रमाद या ढिलाई क्षम्य नहीं। उन्होंने अपने स्वयं के व्यवहार से अनेकों सुदृढ़ कार्यकर्त्ता तैयार किए जो आज भी उनकी कर्मकठोरता के मापदण्ड के रूप में खड़े हैं। वे सदैव स्वयं को कैमराभिमुख होने से प्रयत्न पूर्वक बचाते रहे एवं लोक प्रसिद्धि से सदा अपने को विमुख बना कर रखा।

परम गौभक्त

गौरक्षा के कार्य को वे हिन्दू संस्कृति के पुनरुत्थान की एक महत्वपूर्ण कड़ी समझते थे, अतः गोरक्षार्थ सभी आन्दोलनों में उन्होंने कठोर परिश्रम किया। गाय को बचाने हेतु आन्दोलनों के साथ-साथ गोपालन भी अत्यावश्यक समझते थे अतः भारत की सबसे सशक्त

प्राचीन गौशाला 'कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी' की अवस्था सबसे दयनीय हो चली तो श्री बजरंगलालजी लाठ के आह्वान पर उन्होंने इसको नवजीवन प्रदान करने का संकल्प लिया एवं अपने वरिष्ठ साथी कार्यकर्त्ताओं को प्रयत्नपूर्वक इस कार्य में नियोजित कर इसे पुनः एक सशक्त संस्थान के रूप में खड़ा कर दिया, इसे सभी गौभक्त जानते हैं। इस संस्थान के सतत् बढ़ते कार्य में थोड़ी सी भी कठिनाई आने पर आज सभी हित-चिन्तक उनकी अनुपस्थिति को आन्तरिकता से अनुभव करते हैं।

एकात्मता की अनुभूति

सम्पूर्ण देश ही अपना घर है एवं सारे देशवासी अपने बन्धु- इस भाव को वाणी में नहीं, कर्म में उतार लिया था उन्होंने। १९६७ ई. के बिहार के अकाल की खबरों ने उन्हें बेचैन कर दिया था एवं उन्होंने स्वयं वहां जाकर राहत कार्य करने का संकल्प कर लिया। सुप्रसिद्ध उद्योगपति बांगड़ जी जिनके संस्थान में वे काम करते थे, उन्हें सहायता के लिए तैयार किया एवं स्वयं २-२।। मास अथक परिश्रम से वहां जाकर काम किया। सड़कों से दूर लगने वाले ग्रामांचलों को ही उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र चुना, जहां बाकी संस्थाओं के लोग तब तक पहुंच ही नहीं पाए थे। वे कहा करते कि कठिनाई में काम करने का तो आनन्द ही विलक्षण है। इस कालखण्ड के कठोर परिश्रम ने उनके स्वास्थ्य पर गहरा असर डाला, पर इस कार्य से उनके मन में बड़ा समाधान था।

बंगला देश (तत्कालीन पूर्व पाकिस्तान) से हिन्दुओं के पुनः व्यापक निष्क्रमण से वे व्यथित हो उठे। संघ के अपने साथी कार्यकर्त्ताओं को तो उन्होंने अविलम्ब राहत कार्य में लगाया ही, अपने व्यक्तिगत सम्पर्क में आये लोगों को भी वहां प्रत्यक्ष ले जाकर कार्य का आकलन कराके उनको राहत कार्य के लिए प्रोत्साहित करते रहे। जब सीधे युद्ध की घोषणा हो गई तो सीमा पर जाने वाले जवानों के अभिनन्दन एवं सत्कार हेतु मेवे के हजारों पैकेट बनवा कर रा.स्व. संघ के स्वयंसेवकों की ओर से उन्होंने जनरल अरोड़ा को भेंट किये। बंगलादेश विजय के बाद संघ के तत्कालीन क्षेत्रीय प्रमुख श्री भाउराव देवरस के साथ वे पहले नागरिक थे जिन्होंने बंगलादेश की सीमा में प्रवेश किया, यह घटना उनकी इस सम्बन्ध में मनःस्थिति की सारी कहानी कहने में स्वयं ही समर्थ है।

परम वैष्णव

प्रभु को समर्पित जीवन ही पवित्र रह सकता है, यह उनकी मान्यता थी। अतः देव मन्दिरों के नवनिर्माण एवं जीर्णोद्धार में वे सदैव रुचि लेते रहे एवं विश्व हिन्दू परिषद द्वारा चलाए गए ऐसे प्रयत्नों में वे सदा सहभागी बने। एक बार एक परिचित व्यक्ति को रिक्सा पर बैठे-बैठे दूर से ही भगवत प्रणाम करते देख कर वे हंसी में कह उठे 'ऐसा न हो कि जब

तुम्हारा कोई काम आए तो भगवान भी इतने ही दूर से तुम्हें राम-राम कर लें।' उस मित्र पर इसका कितना गहरा असर हुआ होगा, यह हम सहज ही अनुमान लगा सकते हैं। धर्म-स्थानों की दुर्व्यवस्था एवं समाज में व्याप्त रूढ़ियों से उनका हृदय सदैव जलता रहता था पर वे निराश होने की बजाय उत्तरोत्तर अधिक कर्मकठोर बनते गए एवं एक दीप से दूसरा दीप जलाने के क्रम में उन्होंने अगणित दीप जला कर ही अपना दीप निर्वाण किया।

आदर्श-स्वयं सेवक

वे बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्य के सम्पर्क में आ गए, श्री भंवरलालजी को इस प्रकार की सारी प्रेरणा देने वाले उनके गुरु व मार्ग दर्शक स्व. श्री बच्छराजजी व्यास व श्री मिलापचन्दजी माथुर रहे हैं। उनके एक-एक वचन को वे पूर्णतया मानते व क्रियान्वित करते थे। एक साधारण सी बात कि निकर पहनने का अवसर आवे तो कमीज उसके अन्दर डालना ही चाहिये उनके मुख से सुनने पर फिर अपने जीवन में कभी ऐसा अवसर नहीं आने दिया कि निकर पहन कर कमीज बाहर रहे। प्रारंभिक शिक्षण डीडवाना में पूर्ण कर आगे के अध्ययन के लिए इन्दौर जाने पर संघ प्रेम की यह कड़ी और भी मजबूत हुई एवं विकसित व्यक्तित्व का लाभ बंगाल प्रान्त को मिला, जहां वे अपनी स्नातक शिक्षा के बाद पढ़ने एवं अर्थोपार्जन हेतु आए। उनका सम्पूर्ण व्यवहार एक आदर्श स्वयंसेवक का था-संघ कार्य के विस्तार की अजीब धुन उन पर सवार रहती। अपने समय एवं धन का एक बहुत बड़ा भाग वे इस कार्य के हेतु नियोजित करते। एक बार जब एक मित्र ने उनसे कहा कि आपने इतने वर्ष में इतने बड़े पद पर रहते हुए भी कुछ नहीं किया, तो वे बोल उठे कि 'चादर मैली' करने के अलावा बहुत कुछ किया है तो कहने वाले चुप होकर रह गए। जीवन पर्यन्त संघ कार्य का ध्यान रखने वाले कार्यकर्त्ताओं की लम्बी माला संघ के पास है पर मृत्यु के बाद भी प्रति वर्ष गुरु पूजन का उनका क्रम चलता रहे इस हेतु अपने जीवन काल में ही एक निश्चित राशि इस हेतु अलग नियोजित करके उन्होंने रख दी, ताकि उसका ब्याज पूजन का पुष्प बनकर प्रतिवर्ष अर्पित हो सके- यह विलक्षण श्रद्धा एवं अटूट ध्येय-निष्ठा का एक ऐसा बेमिसाल उदाहरण है, जो सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का सतत् मार्गदर्शन करने के लिए एक दीपस्तम्भ का कार्य करता रहेगा। आपात्काल में अस्वस्थ रहने पर भी वे आन्दोलन की गतिविधि की सतत् जानकारी रखते, आन्दोलन में जाने वाले कार्यकर्त्ताओं के घर की व्यवस्था एवं उनके कोर्ट केस की जानकारी लेकर आवश्यक सहयोग करते रहते। वे कहा करते कि कष्ट तो सबके जीवन में आता है पर अच्छे लोग उसमें से परीक्षा देकर और अधिक निखरते हैं। संघ पर लाया गया यह प्रतिबन्ध अधिक काल तक नहीं टिकेगा एवं हम पुनः सशक्त होकर माता की वन्दना कर सकेंगे। काश वे इसे स्वयं देख पाते।

मृत्यु में भी महान-योगी सा अवसान

बैसाख शुक्ला पूर्णिमा सं. २०३३ वि. के दिन को उन्होंने अपने महाप्रयाण का दिन तय किया। कैंसर के कारण दर्द असह्य हो उठा था। अत: त्रयोदशी की रात्रि को ही अपने निकटस्थ कार्यकर्त्ता श्री बल्देवजी गनेड़ीवाल को बुलाकर कहा कि वैद्य श्री गोवर्धनदासजी शास्त्री को बुलाकर प्रयाण का अच्छा मुहूर्त दिखा कर बताओ। वैद्यजी आए, वे इसे हंसी ही समझते रहे पर भंवरजी का बार-बार आग्रह करने पर उन्होंने पूर्णिमा का दिन अच्छा है यह कहा। भँवरजी ने थोड़ी देर भगवान का ध्यान किया एवं बल्देवजी तथा परिवार के सभी सदस्यों को बताया कि वे पूर्णिमा को प्रात: ११ बजे प्रस्थान करेंगे। चतुर्दशी की रात्रि को कपड़े बदले, शरीर पौंछा एवं भगवान का विशेष स्मरण किया। पूर्णामासी का प्रात: काल आया। कार्यकर्त्ता एवं परिवार के सदस्य उपस्थित थे। किसी ने बताया कि आज तो चन्द्रग्रहण है अत: ४ बजे से सूतक लग जाएगा- भँवरजी ने यह सुना एवं कहा कि ४ बजे सूतक लग जाने से कार्यकर्त्ताओं को वापिस आकर भोजनादि करने में कठिनाई होगी अत: मैं अपना मुहूर्त १ घण्टा पहले करूँगा- आप सबसे कह दें कि मैं १० बजे जाऊंगा। सब लोग इसे मजाक ही समझते रहे पर वे गंभीर थे, इससे सब सशंकित थे। १० बजे वे खड़े हुए, अपने गले की रुद्राक्ष माला भगवान गोपाल के चरणों पर चढ़ाई एवं 'कृष्णाय वासुदेवाय.... गोविन्दाय नमो नम:' का मन्त्र जप करने लगे। ठीक १० बजे १९२९ ई. में राजस्थान के डीडवाना नगर में प्रज्वलित यह दीप एक बार अपनी लौ को पुन: तेज कर असीम तेज में समाहित हो गया। रह गई मात्र उनकी दिव्य स्मृति। अद्भुत थी उनकी तपस्या।

बड़ाबाजार लाईब्रेरी ने कर्मयोगी भँवरलाल मल्लावत की स्मृति में एक व्याख्यानमाला प्रारम्भ की है जिसमें अभी तक वक्ता के रूप में सर्वश्री अशोक सिंहल, अरुण जेटली, तरुण विजय, मुजफ्फर हुसैन (बम्बई) एवं प्रो. देवेन्द्र स्वरूप (दिल्ली) प्रभृति आ चुके हैं। इनकी स्मृति में 'सेवा भारती' द्वारा बड़ाबाजार अंचल में एक चिकित्सा केन्द्र की स्थापना की गई है जिसमें एक्यूप्रेशर पद्धति से रोगियों का नि:शुल्क उपचार किया जाता है तथा उनके जन्मस्थान डीडवाना में भी पं. बच्छराज व्यास आदर्श विद्या मंदिर द्वारा विगत कई वर्षों से एक व्याख्यानमाला का नियमित आयोजन हो रहा है जिसमें आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, केदारनाथ साहनी, डॉ. मुरलीमनोहर जोशी जैसे बड़े राजनेता एवं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वर्तमान सरसंघचालक श्री मोहनजी भागवत एवं सरकार्यवाह भैयाजी जोशी प्रभृति पधार चुके हैं। उनका स्मरण आज भी कार्यकर्त्ताओं को नया उत्साह प्रदान करता है। ●

पुण्यश्लोक कर्मयोगी श्री राधाकृष्ण नेवटिया

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय सहित अनेक लोकसेवी सार्वजनिक संस्थाओं के संस्थापक एवं प्रेरणास्रोत महान कर्मयोगी श्री राधाकृष्ण नेवटिया का जन्म २७ जुलाई १९०१ ई. को गाजीपुर (उ.प्र.) में मोहरी देवी-गंगाधर नेवटिया के परिवार में हुआ। मूलत: ये नवलगढ़ (राजस्थान) के निवासी थे। १९१०-११ में आप हरिबख्श नेवटिया के दत्तक पुत्र होकर कलकत्ता आ गये जो कि उस समय राष्ट्रीय चेतना का जागृत केंद्र बना हुआ था। मारवाड़ी समाज में भी अनेक नवयुवक राष्ट्रीय चेतना की इस धारा में सक्रिय थे। युवक नेवटिया भी व्यवसाय के साथ-साथ राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में क्रमश: अग्रणी भूमिका निभाने लगे।

सन् १९१८ ई. में लोकमान्य तिलक के आह्वान से प्रेरित होकर आप होमरूल लीग के सदस्य हो गये। १९२१ ई. में असहयोग का अलख जगाते जब महात्मा गांधी कलकत्ता पधारे, तब आपने अपने निवास जकरिया स्ट्रीट में केवल स्त्रियों के लिए उनकी विराट आमसभा आयोजित की, जिसमें मारवाड़ी समाज की स्त्रियों ने बड़ी संख्या में भाग लिया। यहीं आपने स्वदेशी का व्रत महात्मा गांधी से लिया और विदेशी वस्त्रों की होली जलाने में आगे-आगे रहे। १९२८ ई. में कुख्यात साइमन कमीशन के विरोध में आपने प्रभात सिनेमा (तब नहीं था) के मैदान में अंग्रेजी हुकूमत के बर्बर एवं शर्मनाक जुल्मों का कच्चा-चिट्ठा मिट्टी की मूर्तियों के माध्यम से प्रदर्शित किया, जिसका उद्घाटन नेताजी सुभाषचंद्र बोस ने किया। फलत: आपको कारावास हुआ। १९३० ई. के नमक सत्याग्रह में भी आपने खुलकर भाग लिया। १९३३ ई. में अंग्रेजी कपड़ा मिल ई.डी. सासून ग्रुप (बम्बई) के विरुद्ध भी आपने जमकर सत्याग्रह में भाग लिया और महामना मदनमोहन मालवीय के स्नेह-भाजन बने। १९४२ ई. के भारत छोड़ो आंदोलन में आपने 'करो या मरो' पत्र का प्रकाशन और सम्पादन किया। जयप्रकाश नारायण, डा. राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली आदि भूमिगत नेताओं के अज्ञातवास की व्यवस्था भी आपने सफलतापूर्वक की। आपके अदम्य उत्साह और त्याग से प्रभावित होकर आपको बड़ाबाजार कांग्रेस कमेटी का उपाध्यक्ष निर्वाचित किया गया। स्वतंत्रता संग्राम में योगदान के लिए १५ अगस्त १९७२ ई. को भारत सरकार ने आपको ताम्र पत्र से अलंकृत किया। १९७६-७७ में आजादी की दूसरी लड़ाई में भी श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच

से आपने आपातकाल के विरोध का पूरा-पूरा समर्थन किया। उन्होंने लेखक (जुगल किशोर जैथलिया) जो उस समय पुस्तकालय के मंत्री थे, से कहा कि वे हल्दीघाटी चतु:शती के कार्यक्रम के माध्यम से जनतंत्र एवं आजादी के रक्षा हेतु किए गए उनके प्रयास के लिए गर्वित हैं।

१९१६ ई. में अपने कतिपय मित्रों के सहयोग से आपने बालसभा पुस्तकालय की स्थापना की, जो १९१८ ई. में श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के रूप में परिणत हुई। १९२० से १९३५ ई. तक आप इसके मंत्री रहे तथा १९३६ से १९४३ ई. तक इसके सभापति। गंगासागर मेले हेतु कुमारसभा पुस्तकालय की ओर से आपने स्वयंसेवक दल का गठन किया और बाढ़ तथा भूकंप जैसी प्राकृतिक आपदाओं में भी पीड़ितों के सेवार्थ सदा तत्पर रहे।

१९२२ ई. में जब जमनालाल बजाज ने अखिल भारतवर्षीय अग्रवाल महासभा की स्थापना की तो इसके मुखपत्र 'अग्रवाल' का संपादन आपको ही सौंपा। आप अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन के संस्थापकों में से एक थे एवम् इसके पाक्षिक मुखपत्र 'समाज सेवक' का सह-संपादन आपने किया। 'मारवाड़ी समाज की आहुतियां' शीर्षक पुस्तक में आपने स्वाधीनता संग्राम के लिए १९२१ से १९४४ ई. तक जेल जाने वालों का जीवन-चरित्र लिखा। कुमारसभा पुस्तकालय के अंतर्गत कुमारसभा विद्यालय की भी आपने स्थापना की। साथ ही बालिकाओं के लिए संगीत, नृत्य, योगाभ्यास और लाठी-कुश्ती आदि सिखाने का भी स्तुत्य उपक्रम आपने किया। मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के मंच से आपने बहुमुखी सेवाकार्य किया। सोसाइटी का प्राकृतिक चिकित्सा विभाग, इनडोर व आउटडोर विभाग आपके ही सत्प्रयासों के परिणाम हैं। आप रायल एशियाटिक सोसाइटी के सदस्य थे।

गौ-सेवा और गौ-रक्षा हेतु भी आप अहर्निश प्रयत्नशील रहे व कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी के काम की अग्रगति में आपका अविस्मरणीय योगदान रहा। आपने गौ रक्षा हेतु चित्रशाली (कृष्णनगर) में एक आश्रम की स्थापना भी की, जिसमें गौशाला एवं बालिका विद्यालय भी हैं। गीता के वे प्रसंग जो महात्मा गांधी को अत्यंत प्रिय थे, आपके संयोजन में 'चित्रमयी गीता' शीर्षक ग्रंथ के रूप में प्रकाशित हुए। स्वाधीनता संग्राम के ९० वर्षों के रोमांचकारी इतिहास पर एक कलात्मक वृत्तचित्र 'राष्ट्रीयता की साधना' का निर्माण १९७४ ई. में आपने किया। निराला अभिनंदन ग्रंथ, बड़ाबाजार के कार्यकर्ता: स्मरण एवं अभिनंदन ग्रंथ तथा मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी की रजत जयंती तथा स्वर्ण जयंती स्मारिकाएं आपके सम्पादन सौष्ठव के प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न शीर्षस्थ राजनैतिक एवं सामाजिक विभूतियों के अभिनंदन ग्रंथों का एवं कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी की अनेकों स्मारिकाओं का भी आपने संपादन किया।

प्राकृतिक चिकित्सा और योग भी आपके जीवन के अभिन्न पहलू थे। भारत में प्राकृतिक चिकित्सा के क्षेत्र में आप अग्रगण्य व्यक्तियों में से थे। अखिल भारतीय प्राकृतिक-चिकित्सा परिषद के आप उपाध्यक्ष रहे। इसके मुखपत्र 'स्वस्थ-जीवन' का धर्मचंद सरावगी के साथ आपने १० वर्षों तक संपादन किया। प्रकृति निकेतन (कलकत्ता) जो प्राकृतिक-चिकित्सा विद्यापीठ भी है, के संस्थापकों में भी आप थे। कलकत्ता के 'योगिक संघ' और 'बड़ाबाजार युवक सभा' की स्थापना में भी आपकी प्रमुख भूमिका रही। योग और प्राकृतिक चिकित्सा पर आपने १० श्रेष्ठ लोकोपयोगी पुस्तकें भी लिखी हैं, जिनमें प्रमुख हैं - 'प्राणायाम', 'हमारी प्रकृति-हमारा आहार', 'योग के द्वारा कब्ज निवारण' आदि।

जीवन के शेष दिनों तक भी आप अत्यंत संयमित एवम् कर्ममय जीवन व्यतीत करते हुए समाज एवं राष्ट्र की सेवा के लिये युवा कार्यकर्त्ताओं के निर्माण में अहर्निश संलग्न रहे एवं ४ सितंबर १९९१ ई. को अपने यज्ञमय जीवन के ९० वर्ष पूर्ण कर अमर ज्योति में विलीन हो गये। ऐसे ही नररत्न हमारे पूरे देश एवं समाज की थाती हैं और उनका जीवन चरित्र हमारा दीप स्तम्भ। ●

प्रखर राष्ट्रभक्त, महान लोकसेवक एवं वाणी के वरदपुत्र श्री कन्हैयालाल सेठिया : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

संवेदना के सागर थे महाकवि कन्हैयालाल सेठिया। देश के प्रति, प्रकृति के प्रति और प्राणिमात्र के प्रति उनके हृदय में संवेदना की अनंत लहरें प्रवाहित होती रहती थीं इस कारण वे जितने बड़े कवि थे, उतने ही बड़े लोकसेवक भी थे। अद्‌भुत था उनके जीवन में यह माणिकांचन संयोग। इसी संवेदना के कारण उन्होंने अपनी कृतियों में जीवन के हर पहलू को छुआ है। काव्य में देशभक्ति का उत्कट भाव है, पिछड़ों-दलितों- वंचितों एवं महिलाओं को उठ खड़े होने की हुंकार है, रूढ़ियों पर तीव्र प्रहार है, प्रकृति के राग-रोगन का अनूठा वर्णन है। अध्यात्म के अभ्यंतर स्वरूप का सहज वर्णन एवं व्याख्या है और इन सबकी अभिव्यक्ति में शब्दों का सहज एवं अभिनव चयन है।

प्रारंभिक जीवन : करोड़ों राजस्थानियों की धड़कनों के प्रतिनिधि गीत 'धरती धोरां री' एवं अमर लोकगीत 'पातल'र पीथल' के यशस्वी रचयिता, मनीषी, कर्मवीर एवं महान् लोकसेवक श्री कन्हैयालाल सेठिया का जन्म आश्विन कृष्ण प्रतिपदा वि. संवत् १९७६ तदनुसार ११ सितम्बर १९१९ ई. को राजस्थान के सुजानगढ़ शहर में एक धर्मप्राण व्यवसायी परिवार में हुआ। माता मनोहरी देवी निष्ठा, करुणा एवं सेवा की प्रतिमूर्ति थी तो पिता छगनमलजी कुशल व्यवसायी एवं सिद्ध हस्त चिकित्सक के साथ-साथ धर्मप्राण एवं सेवाभावी थे। वे बिना किसी भेदभाव के सभी के सुख-दुःख में सम्मिलित होते थे अतः जब वे अपनी हवेली से संतों के दर्शन हेतु जाते तो रास्ते में दुकानदार श्रद्धा से खड़े होकर उन्हें प्रणाम करते। प्रारंभिक शिक्षा सुजानगढ़ में लेने के बाद १९३१ई. में बारह वर्ष की उम्र में ही सेठियाजी कलकत्ता चले आए जहां आपके पिताजी का व्यवसाय था। यहां आगे का अध्ययन चालू रखा, साथ ही देश की स्वतंत्रता हेतु चल रही नरम-गरम गतिविधियों को भी निकट से देखा एवं गांधीवादी दर्शन से प्रभावित हुए।

राजनैतिक सचेतनता : १९३२ ई. से ही आपने खादी पहनना, चर्खा चलाना एवं तकली कातना चालू कर दिया। १९३४ ई. में आपका गांधीजी से साक्षात्कार हुआ, तब

अपनी बचत के चार आने आपने गांधीजी के हाथ पर रख दिए। उसके बाद तो आप अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अधिकाधिक सक्रिय होते गए। स्कूल की छुट्टियों में अपने गांव जाते समय वहां भी हम-उम्र के लड़कों को साथ लेकर तिरंगे के साथ जुलूस निकालना और लोगों में जागृति लाने का काम जारी रखा। १९३६ई. की रामगढ़ कांग्रेस में भी आप शामिल हुए। १९३९ ई. में जापानी बमबारी के कारण आपका परिवार कुछ दिन हेतु कलकत्ता से सुजानगढ़ चला आया। सुजानगढ़ आकर आप हरिजन उत्थान एवं लेखन द्वारा लोक जागरण के काम में जुट गए। १९४० ई. में आपकी प्रथम पुस्तक 'रमणियां रा सोरठा' राजस्थानी भाषा में प्रकाशित हुई जिसमें आपने विदेशी वस्त्र छोड़कर खादी पहनने का आग्रह किया है

चरखो साचो शस्त्र, मिटै गरीबी देश री।
छोड़ विदेशी वस्त्र, रैजी धारौ रमणियां।।

(अर्थात् चरखा ही ऐसा सच्चा शस्त्र है जिससे देश की गरीबी मिट सकती है अतः विदेशी वस्त्र छोड़कर रैजी (मोटा कपड़ा) धारण करना चाहिए।)

इसके बाद १९४२ ई. में देशभक्ति का आह्वान करने वाली आपकी हिन्दी की पुस्तक 'अग्निवीणा' निकली जो साक्षात् अग्निवीणा ही थी। देशी रियासतों के दमघोटू वातावरण में जहां सामान्य नागरिक अधिकारों की बात करना भी देशद्रोह समझा जाता था, आजादी की मांग बुलंद करना तो बहुत बड़ा साहस का काम था पर आपने यह किया-

आज हमारी रग रग में है, महाप्रलय की बिजली दौड़ी।
अब न अधिक अन्याय सहेंगे, हमने युग की रासें मोड़ी।।

चौंक तुम्हारे जयनादों से, हल्दीघाटी जाग उठे।
चम्बल की शीतल लहरों में महाक्रांति की आग उठे।।

इसी भाव के बीस गीत, एक से एक बढ़कर। १९४२ ई. के आंदोलन को ब्रिटिश शासकों ने क्रूरतापूर्वक दमन किया एवं सभी बड़े नेताओं को जेल में ठूंस दिया। इस निराशाजनक माहौल में सेठियाजी ने 'पातल'र पीथल' जैसी ओजस्वी रचना लिखी जिसमें महाराणा प्रताप द्वारा विदेशी राजा के विरुद्ध अथक लड़ने का संकल्प दोहराया गया था-

राखो थे मूंछ्यां ऐंठ्योड़ी, लोही री नदी बहा द्यूंला।
हूं अथक लडूंला अकबर स्यूं, उजड्यो मेवाड बसा द्यूंला।।

इस कविता ने लोगों में दुगुने उत्साह से स्वतंत्रता संग्राम में जूझने का संकल्प पुनः जगाया। जागीरदारी अत्याचारों के विरुद्ध १९४५ ई. में लिखी उनकी कविता 'कुण जमीन

रो धणी ?' किसानों के संघर्ष का गलहार बन गई। इन कविताओं के लिखने का खतरा श्री सेठियाजी ने साहसपूर्वक झेला। 'अग्निवीणा' पर बीकानेर राज्य की ओर से देशद्रोह का मुकदमा भी चला जो भारत की आजादी के बाद ही खत्म हुआ।

१९४२ ई. में सुजानगढ़ में आयोजित बीकानेर साहित्य सम्मेलन में आपने राजकीय अधिकारियों के विरोध के बावजूद कार्यक्रम में महात्मा गांधी का चित्र लगाया। १९४३ ई. में आप डॉ. राममनोहर लोहिया एवं जयप्रकाश नारायण के भी संपर्क में आए। स्वाधीनता के बाद आपने जागीरदारी प्रथा के उन्मूलन हेतु भी बहुत प्रयत्न किए। राजस्थान में रहते हुए भी बंगाल में पड़े भीषण अकाल हेतु आपने डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को सहायता भिजवाई।

१९४८ ई. में राजस्थान राज्य का निर्माण कई देशी रियासतों को विलय करते हुए हुआ पर आबू को इससे अलग रखा गया। श्री सेठिया ने इस अन्याय के विरुद्ध प्रबल आवाज उठाई एवं अंततः इसमें सफल हुए और १९५६ ई. में आबू राजस्थान का भाग बना।

राजस्थान सरकार ने स्वतंत्रता आंदोलन में आपकी सेवाओं की महत्ता को स्वीकार कर आपको 'स्वतंत्रता सेनानी' का मानपत्र देकर सम्मानित किया। १९४७ ई. में आजादी के बाद आप किसी भी राजनैतिक दल के सदस्य नहीं बने फिर भी आपकी सेवाओं को ध्यान में रखकर राजस्थान के १९५२ ई. के विधानसभा निर्वाचन में कांग्रेस ने आपको अपना उम्मीदवार बनाया पर वहां के जागीरदारों के प्रबल विरोध एवं दहशत के कारण आप थोड़े से वोटों से पराजित हो गए। १९५३ ई. में आपको राजस्थान स्टेट ट्रांसपोर्ट ओथोरिटी का सदस्य नियुक्त किया गया एवं १९५४ ई में राजस्थान जल बोर्ड के चूरू जिले का मंत्री मनोनीत किया गया जहां कई वर्षों तक कार्य करने के बाद राजनीतिक दखलंदाजी के कारण त्याग पत्र दे दिया। कुछ वर्ष तक आप राजस्थान जल बोर्ड की कार्यकारिणी के सदस्य भी रहे।

हरिजन सेवा : कलकत्ता से १९३९ ई. में राजस्थान आते ही आप हरिजनों के सेवा कार्य में लग गए। १९४० ई. में पहले तो हरिजन बच्चों को अपने घर पर बुलाकर पढ़ाना चालू किया एवं बाद में विधिवत एक विद्यालय प्रारंभ किया क्योंकि वर्ण व्यवस्था की जकड़न के कारण सार्वजनिक विद्यालयों में इन्हें प्रवेश नहीं मिल पाता था। इस कार्य के कारण आपको समाज एवं घरवालों से भी विरोध सहना पड़ा। १९४६ ई. में आप के द्वारा आरंभ किए विद्यालय को राजकीय विद्यालय बना दिया गया। १९४९ई. में अस्पृश्यता को कानूनन अपराध मान लिया गया था, अतः परिस्थितियों में थोड़ा सुधार आया एवं हरिजन बच्चे सरकारी स्कूलों में भी प्रवेश पाने लगे। १९४९ ई. में आप हरिजन सेवक संघ की अखिल भारतीय कार्यकारिणी समिति के भी सदस्य बन गए तब आपने हरिजन उत्थान का पूरे प्रांत का कार्य आगे बढ़ाया। हरिजनों की बैंड बाजों की पार्टियां बनाई जो उनके रोजगार का साधन तो बना ही, उनके

उच्चवर्ग से मिलने जुलने का भी रास्ता खुला। हरिजन पुरुषों के लिए बढई प्रशिक्षण केन्द्र एवं महिलाओं के लिए सिलाई केन्द्र प्रारंभ करवाए। हरिजनों के बीच आपकी सेवा का ही परिणाम था कि १९८६ ई. में चूरू जिले के मेहतर जब बहकावे में आकर अपना धर्म बदलने हेतु प्रस्तुत हुए तो सेठिया जी के बीच-बचाव एवं समझाने से वह कार्य टल गया।

साहित्य सृजन : वैसे तो मां सरस्वती की कृपा आपको जन्मघुट्टी में ही मिल गई थी अत: बचपन से ही आप कविता करने लगे पर विधिवत् आपकी पहली पुस्तक राजस्थानी में 'रमणियां रा सोरठा' १९४० ई. में प्रकाशित हुई एवं १९४२ ई. में दूसरी पुस्तक 'अग्निवीणा' हिन्दी में। दोनों पुस्तकों को खूब प्रसिद्धि मिली। इसके बाद लेखन का क्रम निरन्तर जारी रहा एवं अब तक आपकी राजस्थानी में चौदह यथा-१) रमणियां रा सोरठा, २) मींझर, ३) गळगचिया, ४) कूंकूं, ५) लीलटांस, ६) धर कूंचा धर मजळां, ७) सबद, ८) मायड़ रो हेलो, ९) सत् वाणी, १०) अधोरी काळ, ११) दीठ, १२) क ळो कोड़ रो, १३) लीकलकोळिया एवं १४) हेमाणी, हिन्दी में अठारह यथा- १) अग्निवीणा, २) वनफूल ३) मेरा युग, ४) दीप किरण, ५) प्रतिबिम्ब, ६) आज हिमालय बोला, ७) खुली खिड़कियां चौड़े रास्ते, ८) प्रणाम, ९) मर्म, १०) अनाम, ११) निर्ग्रन्थ, १२) स्वगत, १३) देह-विदेह, १४) आकाश गंगा, १५) वामन विराट, १६) निष्पत्ति, १७) श्रेयस एवं १८) त्रयी तथा उर्दू में ताजमहल और गुलचीं प्रकाशित हो चुकी है। 'निर्ग्रन्थ', प्रतिबिम्ब और लीलटांस का अंग्रेजी में, 'खुली खिड़कियां चौड़े रास्ते' का मराठी में, निर्ग्रन्थ, अनाम और अधोरीकाळ का बंगला में चुनी हुई कविताओं का जर्मन भाषा में भी अनुवाद हो चुका है। कई पुस्तकों का राजस्थानी से हिन्दी में भी अनुवाद हो चुका है।

चीनी आक्रमण के समय आपने 'चीन की ललकार' एवं 'रक्त दो' नामक दो लघु पुस्तिकायें भी लिखी जो सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर व्यापक रूप से प्रचारित हुई। 'रक्त दो' में १३ कविताएं तथा 'चीन की ललकार' में ११ जोशीली कवितायें हैं। बानगी देखें-

पहरुए जननी की जय बोल !
सुन हो जिसें दिशायें बहरी, डूबे बैरी की रणभेरी।
आर्य देश की हदें हड़पने, निकले हैं मंगोल।। पहरुए... ।।
पंचशील की खाल ओढ़कर, बन्धु बना था जो पशु बर्बर।
वही चाहता चीन बदलना, भारत का भूगोल।। पहरुए... ।।

* * *

ऊभो जोवे बाट हिमाळो, झालो दे'र बुलावै,
बेगा चालो टिड्डी दळ ज्यूं, हूण अडूड्यां आवै।

दुसमण नै भारत की हदस्यूं, पाछो परै बगाद्यो,
जठै आपणीं सींव, तिरंगो झंडै न लहराद्यौ।।

'रक्त दो' से बानगी देखें –

तूं दिल रो दरियाव बावळा, थारै घणी समाई,
पण चाऊ चोरां रो चाट्यो, रोपी जबर ठगाई।
तू सतजुग रो जीव जवाहर, कै जाणे कुटिलाई,
भरी जावण्यां तू माऊड़ै मिनकै नै भोलाई !

पुस्तकों के अलावा राष्ट्रीय समस्याओं को लेकर सेठियाजी ने संबंधित व्यक्तियों को बहुत महत्वपूर्ण पत्र भी लिखे हैं, जिसमें से अधिकांश 'पत्रों के प्रकाश में कन्हैयालाल सेठिया' (प्रधान सम्पादक स्व. श्रीमती राधा भालोटिया) में प्रकाशित हैं। इस संकलन के पत्रों को पलटने पर श्री सेठियाजी के विराट व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। आज से १८ वर्ष पूर्व (दिसम्बर १९९४ ई.) में आपके ७७वें जन्मदिवस पर एक विराट अभिनंदन ग्रंथ भी प्रकाशित हुआ जो पठनीय है।

आपके साहित्य में भारतीय जीवन दर्शन का गहन तत्व सजगता से प्रस्फुटित हुआ है। शब्द कम, प्रभाव में अद्भुत। आपकी कुछ कवितायें तो मात्र दो-तीन पंक्तियों की है, फिर भी वे जीवन के गहनतम तत्वों की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य लिये हुए हैं। आधुनिक युग में इसका जोड़ नहीं मिलता है। आपने गागर में सागर भर दिया है। साहित्यकारों, संतों एवं चोटी के लोगों ने आपके काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। आपके सम्पूर्ण साहित्य को चार खण्डों में राजस्थान परिषद ने मेरे सम्पादन एवं श्री महावीर प्रसाद बजाज के सहसम्पादन में प्रकाशित किया है।

सर्वप्रकार से समृद्ध होते हुए भी राजस्थानी भाषा को संवैधानिक मान्यता नहीं मिलने से सेठियाजी बहुत दुखी थे। वे १९४८ ई. से ही इसके लिए संघर्षरत रहे। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जी जब संविधान परिषद के अध्यक्ष थे तभी आपने इस हेतु उन्हें पत्र लिखकर मांग की थी। बाद में श्रीमती इंदिरा गांधी से भी बात-चीत की एवं आश्वासन लिया पर इसके पश्चात् इन्दिराजी का देहावसान हो गया। राजस्थान के सभी मुख्यमंत्रियों एवं राजनेताओं को वे बार-बार इसके लिए आग्रह करते रहते थे। उपराष्ट्रपति श्री भैरोंसिंह जी शेखावत के नाम तो आपने एक कवितामय चिट्ठी भी लिखी है। इसी विषय पर 'मायड़ रो हेलो' नामक राजस्थानी में आपकी अलग पुस्तक भी है। आपकी एक ही कामना रही थी कि राजस्थानी भाषा को संवैधानिक मान्यता मिले। यद्यपि राजस्थान विधानसभा में इसका प्रस्ताव पारित हो चुका

है पर अभी तक केन्द्र मौन है। लाख-दो लाख लोगों की भाषाओं को मान्यता मिल जाने पर भी ८-९ करोड़ लोगों की समृद्ध भाषा को मान्यता न मिलना सचमुच बेमानी है। सेठियाजी इसी पीड़ा को लेकर इहलोक से चले गए।

अथक लोक सेवा : साहित्य सेवा से भी बढ़कर था सेठियाजी की लोक या जन सेवा का क्षेत्र। देश भर में फैली ऐसी अनेक संस्थाएं हैं जिनके आप या तो संस्थापक थे या संरक्षक। इनमें हनुमान प्रसाद पोद्दार कैंसर हॉस्पिटल (गोरखपुर), महावीर सेवा संघ, मरुधारा, राजस्थान परिषद (सभी कलकत्ता), नगरश्री (सुजानगढ़) एवं सरदार पटेल मेडिकल कॉलेज (बीकानेर) इत्यादि प्रमुख हैं। आपकी प्रेरणा से संस्थापित अस्पताल, छात्रावास, स्वास्थ्य केन्द्र, पुस्तकालय, विद्यालय, महिला विद्यालय, हरिजन उत्थान समितियां एवं संस्कार तथा बालकेन्द्रों की तो लम्बी सूची है। इसके अलावा भी वृद्धों के लिए पेंशन एवं पीड़ितों के लिए आवश्यक सहयोग वाली भी अनेकों संस्थाएं आपकी प्रेरणा से स्थापित हैं। आप किसी संस्था के साथ नाम के लिए नहीं, काम के लिए जुड़ते थे। यही सबसे बड़ी विशेषता थी। हजारों लोगों से आपका आत्मीय संपर्क एवं संबंध था। उनके दुःख-सुख की भी यथासंभव चिंता करते थे।

आपका विवाह १९३७ ई. में १८ वर्ष की उम्र में धापू देवी के साथ हुआ जो सरल एवं सात्विक स्वभाव की महिला हैं। आपके दो पुत्र जयप्रकाश एवं विनयप्रकाश तथा एक पुत्री श्रीमती सम्पत देवी दुगड़ हैं। सभी विवाहित एवं भरे पूरे परिवार वाले हैं। जयप्रकाश जी कवि भी हैं एवं साहित्य में विशेष रुचि रखते हैं। १९७२ ई. से अपने महाप्रयाण (११ नवम्बर २००८ ई.) तक आप स्थाई रूप से अपने पुत्रों के साथ कलकत्ता ही रहते थे।

१९९२ ई. में राजस्थान सरकार द्वारा देश की स्वतंत्रता हेतु की गई आपकी सेवाओं के लिए 'स्वतंत्रता सैनानी' का तामपत्र प्रदान किया गया। २००५ ई. में राजस्थान विश्वविद्यालय ने श्रेष्ठ साहित्यकार के साथ-साथ स्वतंत्रता संग्रामी, समाज सुधारक, दार्शनिक एवं राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर के कवि के रूप में आपका सम्मान करते हुए पी-एच.डी. की मानद उपाधि प्रदान की।

आपके साहित्यिक अवदान हेतु आपको निम्न सम्मान एवं पुरस्कार भी प्राप्त हुए:-

१९७६ ई. : राजस्थानी काव्यकृति 'लीलटांस' साहित्य अकादमी, नई दिल्ली द्वारा राजस्थानी भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति के नाते पुरस्कृत।

१९८१ ई. : राजस्थानी की उत्कृष्ट रचनाओं हेतु लोक संस्कृति शोध संस्थान, चूरू द्वारा 'डॉ. तेस्सीतोरी स्मृति स्वर्ण पदक' प्रदत्त।

१९८२ ई. : विवेकानंद संस्थान कलकत्ता द्वारा उत्कृष्ट साहित्य सृजन के लिए 'पूनमचंद भूतोड़िया पुरस्कार' से पुरस्कृत।

१९८३ ई. : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि से सम्मानित।

१९८४ ई. : राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर द्वारा अपनी सर्वोच्च उपाधि 'साहित्य मनीषी' से विभूषित।

१९८७ ई. : राजस्थानी काव्य में 'सबद' पर राजस्थानी अकादमी की सर्वोच्च 'सूर्यमल मिश्रण शिखर पुरस्कार' प्रदत्त।

१९८८ ई. : राजस्थानी वेलफेयर एसोसियेशन, मुंबई द्वारा 'नाहर सम्मान'।

१९८८ ई. : हिन्दी काव्यकृति 'निर्ग्रन्थ' पर भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली द्वारा 'मूर्तिदेवी साहित्य पुरस्कार' प्रदत्त।

१९९० ई. : मित्र मंदिर, कलकत्ता द्वारा उत्तम साहित्य सृजन हेतु सम्मानित।

१९९७ ई. : रामनिवास आशादेवी लखोटिया ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा 'लखोटिया पुरस्कार' से सम्मानित।

२००२ ई. : राजस्थानी भाषा साहित्य एवम् संस्कृति अकादमी बीकानेर द्वारा प्रथम 'पृथ्वीराज राठौड़ पुरस्कार' से सम्मानित।

२००४ ई. : भारत के महामहिम राष्ट्रपति द्वारा 'पद्मश्री' से अलंकृत।

२०१२ ई. : राजस्थान सरकार द्वारा प्रथम 'राजस्थान रत्न' से सम्मानित।

अपनी रचनाओं से आपने केवल राजस्थान का ही नहीं, पूरे देश का गौरव बढ़ाया है। इनमें विशेष साहित्यिक अवदान हेतु इन्हें राजस्थान का 'रवीन्द्र' भी कहा जाता है। यद्यपि उनका पार्थिव शरीर आज नहीं है, पर वे अपने काव्य के माध्यम से सदैव हमारे बीच में उपस्थित रहेंगे। ●

अविस्मरणीय प्रेरक विभूति
आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

२ मई १९२९ ई. को कलकत्ता के प्रसिद्ध पंडित गांगेय नरोत्तम शास्त्री के परिवार में जन्मे आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री एक उत्तम कोटि के प्रज्ञा पुरुष के नाते सर्वत्र सम्मानित रहे हैं। अपने ज्ञान, भक्ति और सदाचार के बल पर समाज के सभी उम्र एवं वर्ग के लोगों के वे हृदय-सम्राट रहे हैं। इसी के चलते तेरह वर्ष पूर्व ६ मई १९८९ ई. को उनके षष्टिपूर्ति समारोह के आयोजक विचित्र परेशानी में पड़ गये थे जब बिड़ला सभागार में आयोजित उक्त कार्यक्रम में हॉल तो ठसाठस भरा ही था-उतने ही लोग बाहर भी खड़े थे एवं क्रुद्ध होकर नारे लगा रहे थे कि शास्त्रीजी का अभिनन्दन समारोह बन्द हॉल में क्यों आयोजित किया गया, वह तो खुले मैदान में होना चाहिए था। षष्टिपूर्ति पर बधाई देने वालों की भीड़ निरन्तर बढ़ रही थी एवं हालत अनियंत्रित होते देखकर शास्त्रीजी को स्वयं हॉल से उठकर बाहर आना पड़ा, और अपने प्रशंसकों का अभिनन्दन स्वीकार करना पड़ा। इतने पर भी जब लोगों को सन्तोष न हुआ तो हॉल के भीतर बैठे श्रोताओं से संयोजकों को प्रार्थना करनी पड़ी कि भीतर बैठे लोगों में से कुछ लोग जो कार्यक्रम में आधे समय तक सम्मिलित हो चुके हैं, स्वेच्छा से बाहर खड़े लोगों के लिए स्थान बना दें। बैठे लोगों में से अनेकों ने स्नेह से अभिभूत होकर यह भी किया एवं बाहर खडे सैकड़ों लोगों को कार्यक्रम में सम्मिलित होने का सुयोग दिया। बड़े बूढ़ों की इस पर टिप्पणी थी कि ऐसा दृश्य उन्होंने अपने जीवन में पहली बार ही देखा। सचमुच एक बार भी शास्त्री जी के सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति उनसे जुड़ जाता था एवं जिसे उन्होंने अपने लहजे में दो-चार कवितायें सुना दीं वह तो सदा-सदा के लिए उनसे बंध जाता था।

माँ सरस्वती की उन पर अपार कृपा रही है। वे चाहे कक्षा में पढ़ाने खड़े हों, चाहे विद्वत गोष्ठियों में व्याख्यान दे रहे हों अथवा सामाजिक या राजनैतिक सभाओं में भाषण देने खड़े हों, उनकी बातें तथ्यात्मक एवं सटीक होती थी और लोगों के हृदय को छूती थीं। इसका रहस्य था उनका 'होमवर्क'। वे अपने विषयों को तैयार करने में कोताही नहीं बरतते थे एवं अपने को सदैव विद्यार्थी की भूमिका में रखकर नवीनतम पुस्तकें पढ़ते रहते थे। स्मरण शक्ति भी उनकी गजब की थी और कई बार तो कवि-सम्मेलनों में अपेक्षाकृत कम प्रसिद्धि प्राप्त

कवियों का भी परिचय कराते समय उनकी एक के बाद एक कविताओं को उद्धृत कर वे केवल श्रोताओं को ही नहीं बल्कि स्वयं उन कवियों को भी आश्चर्य में डाल देते थे। अब तक उनकी लगभग डेढ़ दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन कृतियों में उनके चिन्तन की गहराई को सहज ही अनुभव किया जा सकता है। कई कृतियाँ पुरस्कृत भी हुई हैं। विद्वता का उपरोक्त पक्ष तो शास्त्रीजी के सम्पर्क में आए प्राय: सभी को ज्ञात है, परन्तु बहुतों को शायद यह ज्ञात नहीं है कि जितना प्रखर उनका प्रज्ञा-रूप है, उतना ही प्रखर उनका शौर्य एवं प्रशासकीय स्वरूप भी है। अपने स्वीकृत लक्ष्य के लिए सब कुछ दाँव पर लगाकर जूझने की उनकी बचपन से ही प्रकृति एवं प्रवृत्ति रही है और उनकी यही विशेषता उन्हें सामान्य विद्वानों से अलग धरातल पर खड़ा करती है।

आज से कोई ५४ वर्ष पूर्व १९४८ ई. में जब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ पर, जिसके कि वे निष्ठावान स्वयंसेवक रहे हैं, नेहरू सरकार ने प्रतिबन्ध लगा दिया तो इस अन्याय का प्रतिरोध करने हेतु आपने सत्याग्रह कर कारावरण किया। सरकार को अंत में झुकना पड़ा एवं प्रतिबंध वापस लेना पड़ा। वे दो माह तक जेल में रहे। नेहरू-नून समझौते को भी भारत के हितों के प्रतिकूल समझकर आपने प्रतिवाद किया, लाठियाँ खाईं और कारावरण किया।

१९६२ ई. में मित्रता का स्वांग भरते-भरते चीन ने भारत पर हमला कर दिया। सारा देश जैसे चौंक पड़ा। सभी देशवासियों से सैन्य प्रशिक्षण लेने का आग्रह किया गया। शास्त्रीजी उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। वे सबसे आगे बढ़कर एन.सी.सी. में भरती हो गए एवं तीन कम्पनियों के कमाण्डर का दायित्व संभाला। उन्हें सेकेण्ड लेफ्टिनेंट का ओहदा भी मिला, पर जब वातावरण थोड़ा शांत हो गया तो आर.एस.एस. से सम्बन्धित होने के कारण आपको इस पद को छोड़ देने को कहा गया। इन्होंने अपना दायित्व मुहम्मद कमरुद्दीन को संभला दिया जिसे सरकार ने इस हेतु नियुक्त किया था।

१९७१ ई. में बांग्लादेश की स्वतंत्रता के आन्दोलन से भी शास्त्री जी सक्रिय रूप से जुड़े रहे एवं पूरा जोखिम उठाकर भी युद्धकाल में बांग्लादेश गए- खुलना में पाकिस्तानी फौज के आत्मसमर्पण के समय १७ दिसम्बर १९७१ ई. को शास्त्रीजी खुलना में ही थे एवं भारतीय फौज के साथ ही गए थे। उस समय उपस्थित रहनेवाले ये पहले गैर-सैनिक भारतीय थे। आपने बांग्लादेश के पूरे अभियान को 'धर्मयुग' साप्ताहिक के प्रतिनिधि के रूप में प्रत्यक्ष देखा एवं वर्षभर तक इस विषय पर आपके तथ्यपूर्ण लेख धर्मयुग में लगातार प्रकाशित हुए। प्रत्यक्ष युद्ध क्षेत्र में उपस्थित रहकर संवाद संग्रह के कार्य की जोखिम हम सहज ही समझ सकते हैं। १९७५ ई. में श्रीमती इंदिरा गांधी ने अपनी कुर्सी बहाल रखने हेतु देश में आपात स्थिति लागू कर दी एवं स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर पाबन्दी लगा दी। बिगड़ते हुए हालातों पर चुप बैठना शास्त्रीजी

के लिए असह्य होता जा रहा था। उन्होंने २० जून १९७६ को कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से हल्दीघाटी चतु:शती के अवसर पर एक वीर-रस कवि सम्मेलन की योजना की एवं स्वयं उसका संचालन भी किया। लगभग १ वर्ष की चुप्पी के बाद कलकत्ता उस दिन मुखर हो उठा था। हिन्दी हाई स्कूल के सभागार में तिल धरने को जगह नहीं थी, आने-जाने के रास्ते पर भी ठसाठस श्रोता भरे थे- श्यामनारायण पाण्डेय एवं मणि मधुकर की कविताओं ने तथा शास्त्रीजी के निर्भीक संचालन ने आपातकाल की बखिया उधेड़ कर रख दी।

सीतारामजी सेक्सरिया जैसे लोग भी उसमें मौजूद थे। वे शास्त्रीजी को यह कह कर बीच में ही चले गए कि आप जानबूझकर विपत्ति को मोल ले रहे हैं। शास्त्रीजी ने कहा कि हम तो आज कफन बांधकर ही आए हैं। जो भी श्रोता उस कार्यक्रम में उपस्थित थे, वे आज तक उसकी स्मृतियाँ सँजोए हैं। १९७७ ई. में केन्द्र में इन्दिरा गाँधी की हार एवं जनता सरकार के गठन के पश्चात् अन्य प्रान्तों के साथ प. बंगाल में भी नए निर्वाचनों की घोषणा हुई। शास्त्रीजी पर भी चुनाव लड़ने के लिए गहरा दबाव पड़ा। वे खड़े हुए एवं जोड़ासाँकू विधानसभा क्षेत्र से विधायक चुने गए और पूरे ५ वर्ष तक विधायक रहे। इस काल-खंड में एक प्रखर राजनेता के रूप में वे विधानसभा के भीतर एवं बाहर सर्वत्र समादृत हुए। १९८०ई. में जब जनसंघ जनता पार्टी से अलग हो गया एवं भारतीय जनता पार्टी के नाम से नया दल गठित हुआ तो आप भाजपा में सम्मिलित हो गए। प्रो. हरिपद भारती भी आपके कहने से ही भाजपा में आए। हरिपद भारती की अकाल मृत्यु के बाद आपने दो बार प्रान्तीय अध्यक्ष के रूप में कार्यभार सम्भाला एवं कठिन चुनौतियों के बीच से भाजपा के कार्य को प.बंगाल में प्रतिष्ठित किया। बाद में वे राष्ट्रीय उपाध्यक्ष एवं राज्यसभा के सदस्य बने।

१९८९ ई. में श्री राम मन्दिर निर्माण आन्दोलन में भाजपा भी शामिल हो गई एवं श्री राम शिला पूजन का कार्यक्रम सारे देश में प्रारंभ हुआ। प.बंगाल की वामपंथी सरकार किसी भी कीमत पर इस कार्य को विफल करना चाहती थी। एतदर्थ जुलूस एवं मीटिंग की अनुमति देने को तैयार नहीं थी। ऐसी परिस्थिति में शास्त्रीजी ने अथक प्रयत्न कर अनुमति प्राप्त की। शास्त्री जी की इस धमकी के बाद ही अनुमति मिली कि जुलूस तो निकलेगा फिर चाहे गोली ही चले। सरकार का अनुमान था कि शिला-पूजन के जुलूस में ५-१० हजार लोग ही मुश्किल से जुटेंगे पर देखते ही देखते लाखों लोग उसमें शामिल हुए। सारे प्रकरण में शास्त्रीजी के तेवर देखने लायक थे। रामजी के कार्य में बाधा वे कैसे सहन कर सकते थे ? १९९० ई. में मन्दिर निर्माण हेतु तीव्र आन्दोलन चला क्योंकि तत्कालीन प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह मन्दिर मुद्दे के लिए वचन देकर भी कुछ नहीं कर सके। उत्तर-प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री मुलायम सिंह तो कह ही चुके थे कि अयोध्या मन्दिर के परिसर में 'परिन्दा' भी पर नहीं मार सकेगा, कारसेवकों की

तो बात ही क्या है ? 'संघ परिवार' ने इस चुनौती को स्वीकारा एवं लाखों कारसेवक भारत के कोने-कोने से इसमें सम्मिलित हुए। शास्त्रीजी भी कारसेवक बनकर इस आन्दोलन में गए। मार्ग में ही गोंडा में उन्हें बन्दी बना लिया गया तो अस्थाई जेल तोड़कर पैदल ही अयोध्या की ओर बढ़े एवं ३० अक्टूबर को दोपहर सरयू के पुल पर पहुँचे।

वहीं पता चला कि गुंबद पर भगवा फहराकर कार-सेवा हो चुकी है। शास्त्रीजी ने किनारे पर रोके गए हजारों-हजारों कारसेवकों का नेतृत्व किया एवं डी.एम. को बाध्य करके रामलला के दर्शन किए। ६२ वर्ष की उम्र में सरकार को चुनौती देकर सैकड़ों मील पैदल चलना, कारा तोड़कर सरकारी नजर बचाकर गन्तव्य स्थल पर पहुँचना एवं सभी कठिनाइयों से पंजा लड़ाते हुए लक्ष्य प्राप्त करना उनके अदम्य साहस का ही सुफल है। इसी बल पर क्रोध से तमतमाये हजारों-हजारों कारसेवकों का सफल नेतृत्व भी उन्होंने उस विकट घड़ी में किया।

दिसम्बर १९९९ ई. में पहली बार आचार्य शास्त्री को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल का उत्तरदायित्व सौंपा गया। अपनी कार्यशैली, व्यवहारपटुता तथा पाण्डित्य के कारण उन्होंने ११ महीने के कार्यकाल में सभी का दिल जीत लिया। कलकत्ता के प्रतिष्ठित बंगला दैनिक 'वर्तमान' के सम्पादक ने शिमला से लौटकर अपने पत्र में जो टिप्पणी लिखी थी उसमें राज्यपाल के रूप में शास्त्रीजी की कार्य-क्षमता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

२४ नवम्बर २००० ई. को विष्णुकान्त जी को उत्तरप्रदेश के राज्यपाल के रूप में स्थानांतरित किया गया। देश की सर्वाधिक आबादी वाले इस प्रदेश की बागडोर संभालना सचमुच चुनौती भरा कार्य था क्योंकि उनके पूर्व वहाँ का राजभवन कतिपय कारणों से विवादों के घेरे में आ गया था। परन्तु अपनी सूझ-बूझ और विवेक-सम्मत दृष्टि के कारण शास्त्रीजी ने राजभवन को न केवल विवाद मुक्त किया अपितु प्रदेश की जनता को यह अहसास कराया कि राजभवन में विराजमान प्रदेश का प्रथम नागरिक साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा सामाजिक दृष्टि से अत्यंत जागरुक और कर्मठ है तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रबल पक्षधर है। उन्होंने राजभवन के कक्षों के अंग्रेजी नामों के स्थान पर हिन्दी नामकरण किया, जिसकी सर्वत्र सराहना हुई। शास्त्रीजी की राज्यपाल के रूप में परीक्षा की घड़ी तब उपस्थित हुई जब फरवरी २००२ ई. में प्रदेश में हुए विधानसभा चुनाव में किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। तमाम दबावों एवं प्रभावों से विचलित हुए बिना राज्यपाल श्री शास्त्री ने प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की। जिस दृढ़ता एवं आत्मविश्वास के साथ उन्होंने यह निर्णय लिया उसकी सर्वत्र सराहना हुई। राष्ट्रपति शासन लगते ही एक बड़ी प्रशासकीय चुनौती मानो शास्त्रीजी की प्रतीक्षा कर रही थी। १५ मार्च का विश्व हिन्दू परिषद का शिलादान कार्यक्रम अयोध्या में प्रस्तावित था और इसके चलते लगभग २० दिन पूर्व से ही प्रदेश की

स्थिति जटिल बनी हुई थी। गोधरा कांड ने रामभक्तों को और भी उद्वेलित कर दिया था। इस बीच सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय से मामला सरकार और रामभक्तों के बीच संघर्ष की ओर बढ़ गया था। सारे देश की आँखें अयोध्या की घटनाओं पर केंद्रित थी और वहाँ की कानून-व्यवस्था का पूरा दायित्व था राज्यपाल श्री विष्णुकान्त शास्त्री पर। अपनी अद्भुत कार्य-कुशलता एवं प्रशासकीय क्षमता का परिचय देते हुए शास्त्रीजी ने इस जटिल अवसर की कठिनतम परीक्षा में अपूर्व सफलता हासिल की। १५ मार्च का शिलादान कार्यक्रम शान्ति से सम्पन्न हुआ और प्रदेश में कहीं भी तनाव की स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। एक संकट टला तो दस दिन बाद ही दूसरा बड़ा संकट आ खड़ा हुआ। केन्द्रीय ऊर्जामंत्री ने राज्य पर भारी बकाये के कारण उत्तर प्रदेश को बिजली न देने की घोषणा कर दी। शास्त्रीजी ने उधार बिजली न खरीदने तथा बिजली बचत अभियान जैसे कठोर निर्णय लिए। उन्होंने राजस्व वसूली अभियान को तेज करने के लिए अधिकारियों को कड़े निर्देश दिए तथा बिजली बचत अभियान का प्रारंभ राजभवन से ही किया। इन सबका सार्थक परिणाम हुआ और सर्वत्र उन्हें सराहना प्राप्त हुई। शास्त्रीजी ने आमलोगों की कठिनाइयाँ दूर करने के लिए 'जन मिलन' कार्यक्रम प्रारंभ किया। राष्ट्रपति के प्रतिनिधि के रूप में लगभग दो माह प्रदेश का चुनौती भरा प्रशासन कुशलता से चलाकर ३ मई २००२ ई. को प्रदेश का प्रशासन भाजपा एवं बसपा की संयुक्त सरकार की मनोनीत मुख्यमंत्री सुश्री मायावती को सौंप दिया। इस बीच राजनीतिक दाव-पेंच लगाकर उन्हें घेरने की कोशिशें भी कम नहीं हुई पर वे सभी निष्फल रहीं। अगस्त २००३ ई. में उत्तर प्रदेश विधानसभा को भंग कर पुनः चुनाव कराने के सुश्री मायावती (तत्कालीन मुख्यमंत्री) के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर आचार्य शास्त्रीजी ने अपने राजनीतिक विवेक का परिचय दिया। उन्होंने २९ अगस्त २००३ ई. को श्री मुलायम सिंह यादव को उत्तरप्रदेश के मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई।

संविधान की मर्यादा की रक्षा करने वाले, स्वार्थों से दूर रहने वाले, शालीनता एवं विद्वत्ता की साक्षात् मूर्ति विष्णुकान्त शास्त्री जैसे लोकप्रिय राज्यपाल को वामपंथियों की बैशाखियों पर चलने वाली केन्द्र सरकार ने 'संघ की विचारधारा' का होने के कारण जब २ जुलाई २००४ ई. को कार्य मुक्त कर दिया तब सभी को राजनीति का ओछापन समझ में आ गया। शास्त्रीजी की प्रतिक्रिया थी- 'मुझे संघ का स्वयंसेवक होने पर गर्व है।' दलगत विभेदों के बावजूद कार्यमुक्त राज्यपाल को मुख्यमंत्री मुलायम सिंह ने राजकीय सम्मान के साथ बिदा किया और स्वयं ६ जुलाई को उनकी गाड़ी में बैठकर हवाई अड्डे पर उन्हें बिदा करने आये।

आचार्य शास्त्री अप्रैल की १७वीं तारीख के प्रातः काल कोलकाता से पटना की रेलयात्रा

करते हुए चुपचाप महायात्रा की ओर प्रस्थान कर गए। पटना में वे 'गीता में अध्यात्म' विषयक व्याख्यान देने हेतु जा रहे थे जिसका आयोजन संयुक्त रूप से पटना संग्रहालय एवं कानोडिया शिक्षा न्यास द्वारा किया गया था। पटना स्टेशन पर उन्हें लेने आए लोगों ने पाया कि उनके प्रिय शास्त्री जी का यात्रा में ही देहान्त हो गया है। परिणामतः व्याख्यान सभा श्रद्धांजलि सभा में परिवर्तित हो गई। सभागार में श्रोताओं के रूप में उपस्थित लोगों की विकलता देखते ही बनती थी। यह क्या हो गया ? कैसे हो गया ? गजब हो गया ! इस जमाने में ऐसे लोग है ही कहां ? ऐसे ही प्रश्न सबके मन में उठकर जुबां पर आ रहे थे। पटना ही नहीं, पूरे देश भर में श्रोताओं का एक बड़ा वर्ग उन्हें सुनने के लिए आतुर रहता था। विषय चाहे अध्यात्म का हो या साहित्य का, राजनीति का हो या समाजनीति का, शास्त्री जी प्रत्येक विषय की गहराई में उतर कर प्राचीन से लेकर अद्यतन चिन्तकों की बातों का संदर्भ देते हुए अपने कथन को परिपुष्ट करते थे, वह भी सरल भाषा में जो श्रोताओं के मन में सहज ही उतर जाता था एवं प्रत्येक बार श्रोता कुछ नया लेकर घर लौटते थे। अतः शास्त्रीजी की उपस्थिति और प्रबुद्ध श्रोताओं की उपस्थिति का एक स्वाभाविक अच्छा समीकरण देशभर में बन गया था परन्तु इसबार ऐसा अघटन घट गया कि पटना में श्रोता आतुर होकर सुनने को बैठे रहे पर शास्त्री जी सुनाने की बजाय मौन होकर रह गए। यह शेर संभवतः इसी परिस्थिति के लिए रचा गया हो–

बड़े ध्यान से सुन रहा था जमाना
तुम्हीं सो गए दास्तां कहते–कहते।

श्रोता उन्हें किस कदर पसन्द करते थे, उसके अनेकों उदाहरणों में से मात्र एक उदाहरण यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ। घटना १९९३ ई. की है। श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के ७५ वर्ष पूर्ति पर कौस्तुभ जयन्ती आयोजनों की श्रृंखला में दिसम्बर माह में एक साहित्यिक कार्यक्रम पुस्तकालय कक्ष में आयोजित था जिसमें शास्त्रीजी का व्याख्यान था। कार्यक्रम में उनकी कई पुरानी छात्रायें भी शामिल थी जिन्होंने कार्यक्रम की समाप्ति पर उनसे कहा कि वे उन्हें बार–बार सुनना चाहती है पर ठीक से मौका ही नहीं मिलता अतः कुछ नियमित कार्यक्रम हेतु शास्त्री जी से प्रार्थना की। पुस्तकालय के पदाधिकारियों को भी यह प्रस्ताव पसन्द आया और उन्होंने भी अपना आग्रह प्रकट किया। अन्त में यह निश्चय हुआ कि शास्त्रीजी का प्रत्येक माह एक व्याख्यान, उनकी सुविधानुसार पुस्तकालय में आयोजित हो। इस योजना के अन्तर्गत फरवरी '९४ से ईशावस्योपनिषद पर प्रवचन आरंभ हुआ। अप्रैल १९९४ में तीसरा प्रवचन आयोजित था। समय था सांयकाल ५ बजे का। उसी दिन चित्तरंजन एवेन्यू स्थित माहेश्वरी सदन में भाजपा प.बंगाल की कार्यसमिति की बैठक चल रही थी जिसमें मैं एवं शास्त्रीजी शामिल थे। तीन बजे से ही घनघोर वर्षा प्रारंभ हुई। चित्तरंजन एवेन्यू जैसी सड़क

पर कमर तक पानी भरा हुआ था। मैं एवं शास्त्री जी ४.३० बजे निकले तो चारों तरफ जल ही जल। अपनी-अपनी धोतियां ऊपर उठाकर सम्हालते सम्हालते हमें आगे बढ़ने पर एक रिक्सा मिल गया जिसमें बैठकर हम थोड़ा-बहुत भींगते हुए ही पुस्तकालय पहुंचे। रास्ते में मैंने शास्त्री जी से कहा कि आज उपस्थिति हो पाना कठिन है। पुस्तकालय का अध्यक्ष होने के नाते मेरी चिन्ता स्वाभाविक थी। शास्त्रीजी बोले कि उपनिषद् की परम्परा में एक श्रोता एवं एक वक्ता ही काफी है अतः चिन्ता की बात नहीं, हम दो तो हैं ही, चलिए, कोई चिन्ता की जरूरत नहीं।

हमलोग पुस्तकालय पहुंचे तो विस्मय से देखा कि सभाकक्ष लगभग पूरा भरा है एवं श्रोताओं में लगभग २० महिलाएं भी हैं जो वर्षा के कारण बदलने के अतिरिक्त वस्त्र लेकर पहुंची हैं। इस घटना से शास्त्री जी भी बहुत प्रभावित हुए एवं बोले - 'लगता है, रामजी ने मेरी सेवा स्वीकार कर ली है।' आयोजकों का तो कहना ही क्या, श्रोता भी इतनी संख्या में एक-दूसरे को देखने पर प्रसन्न थे। सब लोगों के मन में एक ही बात थी कि कहीं वर्षा के कारण आज का प्रवचन छूट न जाए। इन व्याख्यानों की इतनी प्रसिद्धि हुई कि ईशावस्योपनिषद् के व्याख्यान पूर्ण होने पर कैसेटों के पूरे दो-ढाई सौ सेट बिके एवं निरन्तर मांग बनी रही। बाद में इन प्रवचनों को आधार कर 'ज्ञान और कर्म' नामक पुस्तक लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से छपी जिसे साहित्यिक, धार्मिक क्षेत्र में बहुत प्रशंसा मिली।

ईशावास्योपनिषद् के १८ व्याख्यानों के बाद इसी क्रम में श्रीमद्भगवद् गीता पर भी उनके ५५ प्रवचन हुए। इस बीच वे २ दिसम्बर १९९९ ई. को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त हो गए फिर भी दिसम्बर १९९९ ई., जनवरी एवं फरवरी २००० ई. के तीन प्रवचन उन्होंने राज्यपाल बनने के बाद भी उसी तरह व्यासपीठ पर बैठकर दिए। नियुक्ति के समय उन्होंने इसकी आश्वस्ति दी थी एवं उसे पूरा भी किया।

कुमारसभा ने गीता पर उनके प्रवचनों को भी तीन खण्डों में प्रकाशित किया जिसकी सारे देश में अत्यधिक सराहना हुई। दौरों की अधिक संख्या से जहां हमलोग उनसे शिकायत करते रहते थे कि इतने कार्यक्रम न स्वीकारें, स्वास्थ्य का ध्यान रखें तो वे कहते थे कि स्वास्थ्य अच्छा ही है, जो कुछ मेरे पास है, उसे लोगों को दे देना ही मेरा सच्चा धर्म है। मैं ब्राह्मण भी हूँ एवं अध्यापक भी रहा हूँ। इसके बावजूद वे अपने श्रोताओं की मनोकामना कहां पूरी कर पाये ? काश ! वे हमारे बीच अभी कुछ दिन और बने रहते। ऐसे वातावरण में जब राजनेताओं एवं प्रशासकों में से अधिकांश पर से लोगों का भरोसा उठता जा रहा है, शास्त्रीजी जैसे व्यक्ति भरोसे एवं विश्वास का सम्बल बन कर खड़े रहे। ●

नवसंवत्सर चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को हुआ था 'राजस्थान' राज्य का निर्माण : संयोग से वह ३० मार्च था

आज जिसे हम राजस्थान राज्य के नाम से जानते हैं, स्वाधीनता के समय वह अनेक छोटी-छोटी रियासतों एवं रजवाड़ों में बँटा हुआ था। यहाँ की प्रजा जागीरदार, राजा और अंग्रेजी सत्ता की तिहरी गुलामी में अपना जीवन काट रही थी। फिर भी स्वाधीनता के संघर्ष में यहाँ के लोग देश के अन्य भागों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहे थे, पर कुटिल अंग्रेजी सत्ता ने इन सारी ही रियासतों को तीन प्रकार की छूट विदा होते समय दे दी थी अर्थात् वे चाहें तो भारत में मिल जायें, चाहें तो पाकिस्तान में सम्मिलित हो जायें अथवा स्वतन्त्र होकर रहें। इसके पीछे भारत को खण्ड-खण्ड देखने की उनकी राजनैतिक कुटिल दृष्टि थी एवं यदि दुर्दैव से वह सफल हो गई होती तो उसके परिणामों की शायद हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

लौहपुरुष सरदार पटेल इस कुचक्र के प्रति पूर्ण रूप से सजग थे अतः १५ अगस्त १९४७ ई. को भारत की सत्ता हस्तान्तरण के पूर्व जम्मू-कश्मीर एवं हैदराबाद को छोड़कर वे सभी रियासतों एवं रजवाड़ों से 'विलय-पत्र' पर सही करा चुके थे एवं स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही उन्होंने इन सभी रियासतों का प्रशासनिक स्तर पर एकीकरण प्रारम्भ कर दिया था। राजस्थान का वर्तमान स्वरूप तो १९४८ ई. से १९५६ ई. तक लगातार चली सात प्रक्रियाओं का सुफल है, परन्तु यह कार्य कोई एक दिन में नहीं हो गया।

एकीकरण की प्रथम प्रक्रिया १८ मार्च १९४८ ई. को 'मत्स्य संघ' के उद्घाटन के साथ प्रारम्भ हुई जिसमें अलवर, भरतपुर, धौलपुर एवं करौली की रियासतें एकत्र आईं एवं उससे एक एकीकृत स्वरूप बना जो कालान्तर में वृहत्तर राजस्थान का अंग बना। इस एकीकृत राज्य का उद्घाटन तत्कालीन केन्द्रीय खान और ऊर्जा मन्त्री श्री एन.वी. गाडगिल ने किया एवं इसके मुख्यमन्त्री बने श्री शोभाराम।

अन्य रियासतों के बीच भी एकीकरण की प्रक्रिया चल रही थी, जिसके परिणामस्वरूप

२५ मार्च १९४८ ई. को दूसरा एकीकृत स्वरूप सामने आया जब दक्षिण-पूर्व की ९ रियासतों यथा बांसवाड़ा, बून्दी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा एवं टौंक ने आपस में मिलकर अपने को 'राजस्थान यूनियन' नाम दिया जिसकी राजधानी कोटा बनी।

तीसरे चरण में १८ अप्रैल को मेवाड़ के भी इसमें सम्मिलित हो जाने से इसका 'संयुक्त राजस्थान' नामकरण हुआ। इसकी राजधानी उदयपुर बनी एवं श्री माणिक्यलाल वर्मा इसके मुख्यमन्त्री हुए।

चौथे चरण में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर एवं जैसलमेर भी संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित हो गए एवं नवसंवत्सर चैत्र शुक्ला प्रतिपदा, २००६ विक्रम, बुधवार, रेवती नक्षत्र में 'राजस्थान' नामक राज्य का गठन हुआ, जिसका उद्घाटन लौहपुरुष सरदार पटेल ने किया। अंग्रेजी कलैण्डर के हिसाब से संयोग से वह दिन ३० मार्च १९४९ ई. था। जयपुर इसकी राजधानी बनी एवं प्रथम मुख्यमंत्री के रूप में स्वनामधन्य श्री हीरालाल शास्त्री ने शपथ ग्रहण की। उदयपुर के महाराजा को महाराज प्रमुख एवं जयपुर के महाराजा को राजप्रमुख बनाया गया। अंग्रेजी का वर्चस्व मानलेने के कारण हमलोग ३० मार्च को ही आजकल 'राजस्थान दिवस' के रूप में मनाते हैं।

तत्पश्चात शीघ्र ही 'मत्स्य संघ' जो एकीकरण की प्रक्रिया का प्रथम पुष्प था, १५ मई १९४९ ई. को राजस्थान में शामिल हो गया। यह क्रम आगे भी चलता रहा एवं छठे क्रम में १९५० ई. में इसमें सिरोही एवं अन्त में सातवें चरण में १ नवम्बर, १९५६ ई. को राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिश पर आबू एवं अजमेर भी इसमें सम्मिलित कर दिये गए। इसी के साथ मध्य भारत के मंदसौर जिले की मानपुरा तहसील का सुनेल टप्पा ग्राम भी राजस्थान में शामिल कर दिया गया जबकि झालावाड़ जिले का सिरोंज उपजिला मध्यप्रदेश को दे दिया गया। इस प्रकार सात चरणों में आज के राजस्थान का स्वरूप विकसित हुआ है।

यदि राज्य सरकार एक बार निर्णय करके विक्रम संवत् के नववर्ष के दिन राजस्थान दिवस मनाना प्रारंभ करें तो यह लोगों में नई ऊर्जा भर सकता है, त्योहार के साथ जुड़ जाने से लोकमानस में इसे मनाने का नया उत्साह भी जग सकता है। ●

कश्मीर के अलगाव का नया सरकारी शिगूफा : पड़गांवकर रपट

भारतीय संसद द्वारा २२ फरवरी १९९४ ई. को यह संकल्प पारित किया हुआ है कि जम्मू एवं कश्मीर राज्य भारत का सदैव अविभाज्य अंग रहा है एवं आगे भी रहेगा तथा इसे अलग करने के किसी भी प्रयत्न को पूरी ताकत से रोका जाएगा। इसी संकल्प में यह भी मांग की गई है कि पाकिस्तान द्वारा आक्रमण कर अवैध ढंग से हथियाए गए जम्मू-कश्मीर के भू-भाग को उसे खाली करना होगा। साथ ही यह भी घोषणा की गई है कि भारत में अपनी एकता एवं अखंडता की रक्षा करने की दृढ़ इच्छा एवं पूर्ण सामर्थ्य भी है। इतना होने पर भी यह आश्चर्य का विषय है कि हमारी कांग्रेसनीत केन्द्र सरकार द्वारा जम्मू-कश्मीर के प्रति अपनाया गया रवैया सदैव ही उपरोक्त संकल्प के प्रति 'अनिच्छा' प्रकट करने वाला ही नजर आता रहा है। इतिहास तो इस अनिच्छा का पग-पग पर गवाह है ही, वर्तमान सरकार द्वारा दिलीप कुमार पड़गांवकर के नेतृत्व में नियुक्त तीन सदस्यीय कमीशन (वार्ताकारों) की रपट जिसे २४ मई २०१२ ई. को जारी किया गया है, गुमराह करने वाली, चौंकाने वाली एवं संसद के उक्त संकल्प की भावना के विपरीत शरारतपूर्ण सुझावों से लबालब है।

रपट में पाकिस्तान द्वारा जबरदस्ती दबाए हुए कश्मीर के भूभाग को पाक अधिकृत (Pakistan Occupied) कहने की बजाय उसे 'पाक शासित' (Pakistan Administered) कहकर तो वार्ताकारों ने संसद एवं राष्ट्रहित दोनों का सरासर ऐसा अनादर किया है, जिसे देश-द्रोह से किसी भी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। वार्ताकारों को ऐसा कहने का अधिकार कहाँ से मिला है ? बिना किसी तात्कालिक कारण के संसद का अधिवेशन समाप्त होने के तुरन्त बाद इस रपट को राष्ट्रपति चुनाव के माहौल में सार्वजनिक करना वर्तमान सरकार की मंशा पर भी यहाँ गहरे प्रश्नचिन्ह लगता है। कहीं यह रपट वर्तमान सरकार भी आगामी रणनीति को ही तो प्रकट नहीं कर रही है ? हम सभी जानते हैं कि जम्मू-कश्मीर के भारत में विलय के बाद जब पं. नेहरू की जिद्द से वहाँ सत्ता उनके मित्र शेख अब्दुल्ला के हाथों में सौंप दी गई थी तो वहाँ का ध्वज एवं प्रशासन का विधान भारत से अलग बनाया गया एवं वहां मुख्यमंत्री न होकर 'सदरे रियासत' होता था हमारे प्रधानमंत्री की तर्ज पर। भारत से वहां

जाने के लिये परमिट लेना पड़ता था। डॉ. श्यामाप्रसाद मखर्जी ने 'एक देश में दो विधान, दो प्रधान एवं दो निशान' के विरुद्ध आन्दोलन किया, वे मई १९५३ ई. में बिना परमिट लिए वहाँ गए, गिरफ्तार कर जेल में डाले गए एवं फिर लौटकर नहीं आ सके। उनके बलिदान से उपजे रोष के कारण अन्ततः शेख अब्दुल्ला को हटाया गया। धारा ३७० को तो नहीं हटाया गया पर क्रमशः भारत के बहुत से कानूनों का दायरा उस राज्य पर बढ़ाया गया ताकि एकता की तरफ कदम बढ़े। यह कमीशन इस क्रम को एक बार फिर उलट देना चाहता है। इसने सुझाव दिया है कि १९५२ ई. के बाद लागू हुए सारे कानूनों पर पुनर्विचार कर आवश्यक परिवर्तन हो एवं संविधान की धारा ३७० जिसके लिए 'अस्थाई' लिखा गया है, उसे 'स्थाई' बना दिया जाए। इसका सीधा अर्थ है कि कश्मीर को बेलगाम अलगाववादी एवं उग्रवादी तत्वों के हाथों सौंप दिया जाए।

चौंकाने वाली और भी बातें हैं जैसे राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्र अपनी मर्जी से न करके राज्य द्वारा सुझाये गए तीन नामों में से किसी एक की करें; मुख्यमंत्री एवं राज्यपाल शब्दों का प्रयोग उर्दू के समानार्थी शब्दों में किया जाए; केन्द्र सरकार कश्मीर समस्या के हल के लिए हुर्रियत कान्फ्रेंस, पाकिस्तान एवं पाक अधिकृत कश्मीर के आकाओं से भी बातचीत करें। सेना के विशेषाधिकारों में कटौती की बात भी कमीशन ने यह कहते हुए की है कि यही वहाँ के लोगों के कष्टों का बड़ा कारण है। लगभग १७० पृष्ठों की रपट में और भी ऐसे अनेक विषयों पर राय दी है जिससे इस रियासत पर केन्द्रीय सरकार का असर एवं सम्बन्ध ढीला हो और अन्ततः यह रियासत भारत के नियन्त्रण से हट जाए।

इस तीन सदस्य कमीशन (वार्ताकारों) की नियुक्ति केन्द्र सरकार के गृह-मंत्रालय ने १३ अक्टूबर २०१० ई. को की थी जिसमें इसके प्रधान दिलीप कुमार पडगांवकर के साथ राधाकुमार एवं एम.एम. अंसारी बने। इसकी शर्तों को कभी सार्वजनिक नहीं किया गया। यहाँ तक की अलगाववादियों ने भी इनसे मिलना तक स्वीकार नहीं किया फिर भी किनसे मिलकर एवं किस निहित प्रयोजन से उन्होंने एक वर्ष का समय एवं खर्च लगाकर यह रपट प्रस्तुत की है यह देश की एकता एवं अखंडता बनाये रखने के इच्छुक भारतीय नागरिकों के लिए एक गहरा झटका है। अंगुली सीधी सरकार की मंशा पर जाती है।

जम्मू कश्मीर के मसले पर हम बार-बार चूकते रहे हैं। इसके भारत में विलय के समय ही गुरिल्लों के वेश में सजी हुई पाकिस्तानी सेना जब हारकर पलायन कर रही थी तभी हम युद्ध विराम कर मसले को संयुक्त राष्ट्रसंघ में ले गए जिसका परिणाम पाक-अधिकृत कश्मीर है। १९६५ और १९७१ के पाकिस्तान के साथ युद्धों के बाद हमारी स्थितियाँ ऐसी बनी थी कि हम इस मामलें को सदा-सदा के लिय सुलझा सकते थे पर हम युद्धों में जीतते रहे और

वार्ता की मेज पर हारते रहे। कश्मीर के तीन लाख पंडितों को निकाल देने पर भी हम मौन साधे रहे। अब ऐसे वार्ताकारों को नियुक्त कर हम किस दिशा में बढ़ रहे हैं इसकी चिन्ता भारत की देशभक्त जनता को करनी चाहिए।

अत: आवश्यक है कि इस पर व्यापक जन-चर्चा हो एवं ऐसी रपट को कूड़ेदान में फेंक देने के लिए तो केन्द्रीय सरकार पर सब तरफ से व्यापक दबाव बनाया ही जाए, संसद के १९९४ ई. के प्रस्ताव के क्रियान्वयन की रणनीति पर भी सरकार को चेताया जाए। ●

शान्ति !

शान्ति विश्व को तभी मिलेगी, जब भारत जागेगा।
वेद ऋचायें जब गूंजेगी, तमस पूर्ण भागेगा।।
पश्चिम जिसका तत्वज्ञान, सुखभोगों पर आधारित।
जिसकी सारी राजनीति, छल-बल तिकड़म से प्रेरित।।
उनके शब्दाडम्बर से जग का कल्याण न होगा।
केवल छलना से मानवता का परित्राण न होगा।।
ऋषि मुनियों के देश जगतहित, उठना तुम्हें पड़ेगा।
शान्ति विश्व को तभी मिलेगी, जब भारत जागेगा।।
चिर अशान्ति की दीवारों का तब ही होगा भेदन।
जब अन्तरतम में जागेगा पर-दुख का संवेदन।
ओढ़ मुखोटे, स्वांग रचा जो, शान्ति-शान्ति चिल्लाते।
रोज शान्ति हित सम्मेलन के, जाल रचाते जाते।।
शेष ढ़ाक के तीन पात, छल से क्या बुद्ध बनेगा ?
शान्ति विश्व को तभी मिलेगी, जब भारत जागेगा।।
जबसे शक्ति स्रोत पर पश्चिम का अधिकार बना है।
मानवता विभ्रान्त हुई है, मानव खिन्नमना है।।
मची हुई है त्राहि-त्राहि, जगतीतल और अम्बर में।
एक छोटी सी भूल, मिटा सकती है जगको क्षण में।।
संयम, त्याग शक्ति ले भारत, जब अंगड़ाई लेगा।
शान्ति विश्व को तभी मिलेगी, जब भारत जागेगा।।

परिशिष्ट

(खण्ड-२ एवं ४ के सहयोगी रचनाकार)

* सहयोगी रचनाकार *

रचनाकार	खण्ड/पेज	रचनाकार	खण्ड/पेज
• श्री अजीत विश्वास	४/१६२	• श्री गजानन्द राठी	२/६७
• सुश्री अंजू सिंह	२/४५	• डॉ. गिरिधर राय	४/७१
• श्री अम्बू शर्मा	४/४९	• श्री गुलाब खण्डेलवाल	४/३
• श्री आनन्द मिश्र 'अभय'	४/१२३	• श्री गुलाब चन्द कटारिया	४/१३७
• डॉ. अरुण प्रकाश अवस्थी	४/३१	• श्री गोपाल कृष्ण जासू	२/५८
• श्री अरुणप्रकाश मल्लावत	४/२०८	• श्री गोविन्द जैथलिया	२/२५
• साधक उम्मेदसिंह बैद	४/१८३	• श्री गोविन्द नारायण काकड़ा	२/५५
• श्री ओंकारश्री	४/१७०	• श्री गौरीशंकर मधुकर	४/८०
• श्री कपूर चन्द जैन	२/३६	• श्री जगदीश सोनालिया	४/७०
• श्री कपूर चन्द सेठिया	२/५३	• श्रीमती जमनु हेडा	२/३१
• डॉ. किरण चन्द नाहटा	४/८७	• श्री जयकुमार रुसवा	४/१३०
• डॉ. किशोर काबरा	४/५९	• श्री जयप्रकाश सेठिया	४/१८९
• डॉ. कुलदीप चन्द अग्निहोत्री	४/१५९	• डॉ. तारा दूगड़	४/२११
• डॉ. कुसुमलता केडिया	४/१०१	• डॉ. तारादत्त 'निर्विरोध'	४/४३
• श्री केशव हेडा	२/२९	• डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय	४/३८
• श्री कृष्ण मित्र	४/२०	• श्री दामोदर प्रसाद राठी	२/२७
• डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र	४/१७	• डॉ. देव कोठारी	४/११९
• श्री कृष्ण चन्द्र टवाणी	४/१४३	• श्री देवदत्त शर्मा	२/५१
• श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित	४/१०५	• श्रीमती दुर्गा व्यास	४/३०
• श्री खुशहाल चन्द आर्य	४/८१	• डॉ. धनपत राम अग्रवाल	४/२०३

रचनाकार	खण्ड/पेज
• श्री धनराज दफ्तरी	४/१७७
• श्री नंदलाल शाह	४/५१
• डॉ. नरेन्द्र कोहली	४/७
• श्री नरेन्द्र कुमार धानुका	४/९३
• श्री परशुराम वर्मा	२/६१
• डॉ. पुरुषोत्तमलाल चतुर्वेदी	४/१२७
• श्री प्रकाश बेताला	२/४१
• श्री प्रमोद शाह	४/१३९
• डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी	४/२६
• श्री प्रेमसिंह चौधरी	२/३९
• सुश्री प्रज्ञा जैथलिया	२/२४
• श्री बंशीधर शर्मा	४/७६
• श्री बलवीर सिंह करुण	४/९६
• श्री बिमलचन्द भण्डारी	२/४३
• श्री बिरदीचन्द तोसनीवाल	२/६५
• श्री भँवरलाल मूंधड़ा	४/१५७
• डॉ. भगवतीलाल व्यास	४/१५१
• श्री भागीरथ चांडक	२/३५
• डॉ. मदन सैनी	४/६
• श्री महावीर बजाज	४/२१५
• डॉ. महेशचन्द्र शर्मा	४/६५
• डॉ. मुरली मनोहर जोशी	v
• श्री मुरली मनोहर चांडक	२/३०
• पद्मश्री डॉ. मुजफ्फर हुसैन	४/४१
• श्री मोहनलाल चोखानी	४/१०८
• श्री मोहनलाल पारीक	४/२०९
• श्री मृदुल हेडा	२/३२

रचनाकार	खण्ड/पेज
• श्री रतन शाह	४/१९१
• श्री रमेशचन्द जैन	२/६९
• डॉ. रमानाथ त्रिपाठी	४/५७
• श्री राजाराम बिहानी	२/३३
• श्री राजेन्द्र कानूनगो	४/१३६
• श्री रामगोपाल सूंघा	४/१५५
• श्री रामावतार सराफ	२/६३
• प्रो. रामेश्वर मिश्र पंकज	४/६३
• श्री रिछपाल चंद मेहता	२/४८
• श्री रीतेश तिवारी	४/१६५
• श्री लक्ष्मण केडिया	४/१९४
• श्री लक्ष्मी नारायण भाला	४/१०९
• डॉ. वसुमति डागा	४/१९७
• डॉ. वागीश दिनकर	४/३४
• श्री विजय कुमार	४/६७
• श्री विद्यासागर मंत्री	२/४९
• डॉ. विनोद सोमानी 'हँस'	४/८९
• श्री विमल लाठ	४/२७
• डॉ. शक्तिदान कविया	४/११३
• श्री शार्दूलसिंह जैन	४/२१
• डॉ. शिवओम अम्बर	४/३५
• श्री शिवकुमार गोयल	४/५४
• श्री शिशुपाल सिंह 'नारसरा'	४/८३
• श्री शैवाल सत्यार्थी	४/१६७
• श्री श्याम आचार्य	४/९७
• श्री श्याम माथुर	४/४६
• स्वामी संवित् सुबोधगिरि	४/१०३

रचनाकार	खण्ड/पेज
• श्री सजनकुमार बंसल	४/१४९
• श्री सज्जन कुमार तुलस्यान	४/२३
• श्री सत्यभगवान चाचाण	४/१७३
• श्री सागरमल गुप्त	४/१९९
• श्री सीताराम महर्षि	४/१७५
• सुश्री सुप्रिया बैद	४/१४३
• पद्मश्री सूर्यदेव सिंह	४/२०१
• डॉ. सोनाराम विश्नोई	४/१४८
• आचार्य सोहनलाल रामरंग	४/२१४
• श्रीमती स्नेहलता बैद	४/१५३

रचनाकार	खण्ड/पेज
• डॉ. हरीन्द्र श्रीवास्तव	४/१८१
• श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी (पूर्व राज्यपाल)	४/७७
• श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी	४/१४५
• श्री श्रीकांत शर्मा 'बालव्यास'	४/९१
• डॉ. श्रीनिवास शर्मा	४/२०६
• श्री श्रीमोहन तिवारी	४/१७९
• श्री श्रीराम तिवारी	४/१८५
• श्री श्रीराम सोनी	४/१३३

* * *

निष्ठा तथा कर्मशक्ति का सम्मान है जुगलजी का अभिनन्दन : डॉ. जोशी

कोलकाता २ अक्टूबर। 'जुगलकिशोर जैथलिया का अभिनन्दन किसी व्यक्ति विशेष का नहीं– निष्ठा, कर्मशक्ति तथा वैचारिक दृढ़ता जैसी सद्वृत्तियों का सम्मान है। मूल्यों, नीतियों एवं आदर्शों के घोर पतन वाले इस युग में जहाँ अनियंत्रित काम और अनियंत्रित अर्थ ने अपना जाल फैला रखा है, जुगलजी जैसे मूल्यनिष्ठ, सिद्धांतप्रिय, कर्मठ कार्यकर्त्ता आश्वस्ति प्रदान करते हैं। वैचारिक एवं सैद्धांतिक स्तर पर बिना किसी चिंता के हर चुनौती को स्वीकार कर जैथलियाजी ने साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रभृति समाज के विभिन्न क्षेत्रों को समृद्ध कर बदले में बिना कुछ चाहे, राष्ट्र की महत्वपूर्ण सेवा की है।' ये उद्गार हैं पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री एवं सांसद **डॉ. मुरली मनोहर जोशी** के, जो आज स्थानीय ओसवाल भवन सभागार में कर्मयोगी जुगलकिशोर जैथलिया अमृत महोत्सव समारोह समिति की ओर से आयोजित अमृत महोत्सव अभिनन्दन में मुख्य अतिथि के रूप में बोल रहे थे।

कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रख्यात साहित्यकार **डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र** ने कहा कि इस आयोजन के माध्यम से विविध क्षेत्र के लोगों ने जिस उल्लास के साथ जैथलियाजी का अभिनन्दन किया उससे प्रसन्नता हुई तथा यह धारणा पुष्ट हुई कि समाज के लिए स्वयं को समर्पित करनेवाला सदैव सम्मानित होता है। उन्होंने कहा कि जैथलियाजी ने श्रेष्ठ कर्म और दृढ़ चरित्र के बल पर इतने लोगों का भरोसा अर्जित किया है, यह सचमुच गर्व की बात है।

अपने भावपूर्ण उद्गार में **श्री जुगलकिशोर जैथलिया** ने कहा कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री, कर्मयोगी भंवरलाल मल्लावत, समाजसेवी राधाकृष्ण नेवटिया तथा सुन्दरसिंह भंडारी के सान्निध्य में मुझे जो सीख मिली उसने धन से विरत राष्ट्र एवं समाजसेवा का सार्थक मार्ग दिखाया। उन्होंने कहा कि बचपन से ही उन्हें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के त्यागी, तपस्वी प्रचारकों एवं कार्यकर्त्ताओं के जीवन को निकट से देखने एवं जानने का सुअवसर मिला है जिसे स्मरण करते हुए मन में ये पंक्तियाँ कौंध जाती हैं– *हम चले ही क्या, अगर देखें जरा उनको / चल रहे जो मौन, पर्वत पीठ पर लादे।* उन्होंने अपनी कर्मयात्रा में डॉ. जोशी, श्री विमल लाठ एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं का विशेष आभार प्रकट किया जिनके कारण आज वे इस मुकाम पर पहुँचे हैं। उन्होंने आगे कहा कि आज आप सभी के अपार स्नेह ने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी है, प्रभु से प्रार्थना है कि मैं आप सबकी अपेक्षाओं पर खरा उतरूँ।

इस अवसर पर **श्री महावीर बजाज** द्वारा संपादित ६३२ पृष्ठों वाले जुगलजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर केन्द्रित ग्रंथ **कर्मयोग का पथिक** का लोकार्पण डॉ. मुरली मनोहर जोशी के करकमलों से सम्पन्न हुआ। मुख्य वक्ता प्रख्यात रंगकर्मी **श्री विमल लाठ** ने जुगलजी के साथ विभिन्न सामाजिक क्षेत्रों के अपने प्रेरक अनुभव सुनाए। वरिष्ठ आयकर सलाहकार **श्री सज्जन कुमार तुलस्यान** ने कहा कि जुगलजी ने विकट पारिवारिक संकटों के बावजूद देश–समाज एवं माँ भारती

की सेवा में स्वयं को समर्पित कर अनुपम आदर्श प्रस्तुत किया है। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्व क्षेत्र के संघचालक **श्री रणेन्द्रलाल बंद्योपाध्याय** ने कहा कि संघ के स्वयंसेवकों में जिन गुणों का समावेश होना चाहिए, जुगलजी ने अपने आचरण-व्यवहार से उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाणित किया है। राजस्थान के पूर्व काबीना मंत्री **श्री यूनुस खान** ने कहा कि जैथलियाजी ने राजस्थान के छोटीखाटू गाँव की माटी की सुगंध को कर्मक्षेत्र कोलकाता के माध्यम से सारे देश में फैलाकर माटी की महिमा प्रमाणित की है। साथ ही वे अपने गाँव को भी भूले नहीं हैं। वहाँ के पुस्तकालय की विविध गतिविधियों ने उसे राजस्थान का साहित्यिक-तीर्थ बना दिया है। समाजसेवी **श्री सरदारमल कांकरिया** ने कहा कि जुगलजी जैसे कार्यकर्ताओं पर समाज को गर्व है। पत्रकार **श्री विश्वम्भर नेवर** ने विविध विचारों के लोगों को भी एक साथ लेकर चलने की जुगलजी की क्षमता की प्रशंसा की। भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष **श्री राहुल सिन्हा** ने जुगलजी की सैद्धांतिक दृढ़ता एवं आर्थिक शुचिता की प्रशंसा की। भारतीय भाषा परिषद की अध्यक्षा **डॉ. प्रतिभा अग्रवाल** ने कहा कि पद्मभूषण सीताराम सेक्सरिया तथा साहित्यमनीषी आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के बाद कोलकाता में जैथलियाजी का ऐसा भव्य सम्मान देखकर आनन्दानुभूति हो रही है। इस हेतु आयोजक धन्यवाद के पात्र हैं। अपने स्वागत भाषण में **श्री शार्दूलसिंह जैन** ने कहा कि ६५ वर्ष की आयु के उपरांत अपने फलते-फूलते आयकर सलाहकार के व्यवसाय से निवृत्ति लेकर अपना जीवन पूरी तरह समाज एवं राष्ट्र के लिए समर्पित कर जुगलजी ने एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया है।

मंच पर सीटीसी के चेयरमैन श्री शांतिलाल जैन, उद्योगपति सज्जन भजनका, समाजसेवी श्री सीताराम शर्मा, प्रसिद्ध प्रवचनकर्ता पं. श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास', समाजसेवी श्री महावीर प्रसाद नारसरिया, भाजपा के पूर्व अध्यक्ष श्री तथागत राय, पारीक सभा के अध्यक्ष श्री मोहनलाल पारीक भी उपस्थित थे। संचालन किया कुमारसभा पुस्तकालय अध्यक्ष एवं सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज के हिन्दी विभागाध्यक्ष **डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी** ने तथा धन्यवाद ज्ञापन किया समारोह समिति के उपाध्यक्ष **श्री रुगलाल सुराणा जैन** ने। कार्यक्रम का प्रारंभ विप्र फाउण्डेशन की सदस्याओं द्वारा भारत वंदना से हुआ तथा अभिनन्दन गीत प्रस्तुत किया लोकप्रिय गायक **श्री सत्यनारायण तिवाड़ी** ने।

अमृत महोत्सव में कोलकाता की ५० से अधिक सार्वजनिक संस्थाओं यथा- राजस्थान परिषद, बड़ाबाजार लाइब्रेरी, पारीक सभा, राजस्थान ब्राह्मण संघ, परिवार मिलन, विश्व हिन्दू परिषद, भा.ज.पा. (प.बं.), महर्षि दधीचि सेवा ट्रस्ट, ओसवाल नवयुवक समिति, वनबंधु परिषद, अ.भा. मारवाड़ी सम्मेलन, माहेश्वरी सभा, सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय, मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी, हरियाणा संघ, नागरिक स्वास्थ्य संघ, कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी, महावीर सेवा सदन, पूर्वांचल कल्याण आश्रम, विद्यार्थी परिषद, भारत रिलीफ सोसाइटी, माहेश्वरी पुस्तकालय, श्री विशुद्धानन्द हॉस्पिटल, श्री वि.स.मारवाड़ी हास्पिटल, श्री श्वे. स्थानकवासी जैन सभा, तेरापंथी सभा, सिद्धि विनायक भक्त मंडल, स्वस्तिका प्रकाशन ट्रस्ट, परचम एवं राजस्थानियों की अन्य विभिन्न नागरिक परिषदों यथा सरदारशहर, नागौर, चूरू, लाडनूं, डीडवाना, सीकर, छापर, नोखा, मण्डेला एवं छोटीखाटू आदि संस्थाओं के पदाधिकारियों एवं जुगलजी के अनेक मित्रों एवं रिश्तेदारों ने माला/पुष्प स्तवक/शॉल व प्रतीक चिह्न भेंटकर सम्मानित किया। सभागार में कोलकाता एवं हावड़ा महानगर के गणमान्य व्यक्ति बड़ी संख्या में उपस्थित थे। ●

अमृत महोत्सव

अमृत महोत्सव में सामने की पंक्ति में विराजमान हैं (बाएँ से) सर्वश्री रणेन्द्रलाल बन्द्योपाध्याय (संघचालक पूर्वक्षेत्र), सज्जन कुमार तुलस्यान (वरिष्ठ आयकर सलाहकार), शार्दूल सिंह जैन (अध्यक्ष: महोत्सव समिति), डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र (समारोह अध्यक्ष), डॉ. मुरलीमनोहर जोशी (प्रधान संरक्षक, अमृत महोत्सव समिति), जुगलकिशोर जैथलिया (उत्सव मूर्ति), यूनुस खान (पूर्व कार्बीना मंत्री, राजस्थान) विमल लाठ (सुप्रसिद्ध रंगकर्मी) सरदारमल कांकरिया (उद्योगपति एवं समाजसेवी) तथा राहुल सिन्हा (अध्यक्ष, भाजपा प.बं.)। पीछे परिलक्षित हैं सर्वश्री महावीर बजाज, डॉ. उमाशंकर त्रिपाठी, सज्जन भजनका, तथागत राय, विश्वम्भर नेवर, सीताराम शर्मा, शांतिलाल जैन, मोहनलाल पारीक, प. श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास', महावीर प्रसाद नारसरिया एवं रुगलाल सुराणा जैन।

श्री जैथलिया को मानपत्र भेंट करते हुए मुख्य अतिथि डॉ. मुरली मनोहर जोशी एवं अध्यक्ष डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र।

तिलक लगाकर अभिनन्दन करती हुई पारीक सभा की वरिष्ठ सदस्या श्रीमती विजया पारीक।

गुलाब के फूलों की माला पहनाकर स्वागत करते हुए वरिष्ठ राजनेता एवं राजस्थान सरकार के पूर्व कार्बीना मंत्री श्री यूनुस खान।

शाल ओढ़ाकर अभिनन्दन करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के पूर्वक्षेत्र के संघचालक श्री रणेन्द्रलाल बन्द्योपाध्याय।

श्रीफल भेंटकर अभिनन्दन करती हुई कुमारसभा पुस्तकालय की साहित्य मंत्री श्रीमती दुर्गा व्यास।

श्री जैथलिया जी का अभिनन्दन करते हुए डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र, डॉ. मुरली मनोहर जोशी एवं श्री राहुल सिन्हा।

अमृत महोत्सव

समारोह में वक्तव्य रखते हुए मुख्य अतिथि पूर्व मानव संसाधन विकास मंत्री एवं सांसद डॉ. मुरली मनोहर जोशी।

'कर्मयोग का पथिक' ग्रन्थ लोकार्पित करते हुए डॉ. मुरली मनोहर जोशी। बाँए हैं ग्रन्थ के सम्पादक महावीर बजाज।

समारोह में अध्यक्षीय वक्तव्य रखते हुए प्रख्यात साहित्यकार एवं ललित निबंधकार डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र।

वक्तव्य रखते हुए डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी, श्री विमल लाठ एवं श्री शार्दूलसिंह जैन

वक्तव्य रखते हुए श्री राहुल सिन्हा, श्री यूनुस खान एवं डॉ. प्रतिभा अग्रवाल

वक्तव्य रखते हुए श्री सज्जन कुमार बुलेप्पान, श्री सरदारमल कांकरिया एवं श्री विश्वम्भर नेवर।

वक्तव्य रखते हुए श्री रमेन्द्रलाल बन्द्योपाध्याय एवं श्री रतनलाल सुराणा जैन। स्वागत करती हुई डॉ. तारा दूगड़।

'भारत वन्दना' गीत प्रस्तुत करती हुई विप्र फाउण्डेशन की सदस्याएं एवं गायक श्री सत्यनारायण तिवाड़ी प्रभृति।

भारी संख्या में समारोह में उपस्थित श्रोतीजन।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

माल्यार्पण कर अभिनन्दन करते हुए श्री भागीरथ चांडक।

माल्यार्पण के उपरान्त गौ-ममता का प्रतीक चिह्न भेंट करती हुई श्रीमती जमुना हेडा। पास में खड़े हैं श्री नवरतन डोकर।

माल्यार्पण कर अभिनन्दन करते हुए बड़े दामाद श्री दामोदर प्रसाद गोदी (दिल्ली)।

रुद्राक्ष की माला एवं अंग वस्त्र पहनाकर अभिनन्दन करते हुए श्री सत्यनारायण भैया। साथ में है भैया परिवार।

उपहार देते हुए श्री सत्यनारायण भैया, श्रीमती लक्ष्मी भैया एवं श्री कमल भैया।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

माल्यार्पण कर अभिनन्दन करते हुए मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी के अध्यक्ष श्री सज्जन भजनका एवं प्रधानमंत्री श्री गोविन्दराम डाणेवाला।

श्रीफल एवं माल्य प्रदान कर अभिनन्दन करते हुए माहेश्वरी सभा के सभापति श्री किशनगोपाल मालू।

माल्यार्पण कर अभिनन्दन करते हुए हरियाणा संघ के अध्यक्ष श्री बाबूलाल धनानिया।

अभिनन्दन करते हुए नागरिक स्वास्थ्य संघ के मंत्री श्री मोहनलाल दुजारी। साथ में भाजपा के वरिष्ठ नेता श्री भंवरलाल मूंधड़ा, श्री विजय ओझा एवं सुनीता डंवर भी परिलक्षित हैं।

माल्यार्पण कर अभिनन्दन करते हुए पारीक सभा एवं राजस्थान ब्राह्मण संघ के अध्यक्ष श्री मोहनलाल पारीक।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

गोमाता एवं भगवान श्रीकृष्ण की प्रतिमा भेंट कर अभिनन्दन करते हुए कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी के अध्यक्ष श्री घनश्यामदास बेरीवाल। महावीर सेवा सदन के संस्थापक श्री जसवंत सिंह मेहता भी साथ में परिलक्षित हैं।

अभिनन्दन करते हुए परिवार मिलन के उपाध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद मन्त्रिसत्या एवं राजस्थान परिषद के पूर्व अध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद नारसरिया।

अभिनन्दन करते हुए मेड़ क्षत्रिय सभा के अध्यक्ष श्री श्रीराम सोनी, उपाध्यक्ष श्री राधेश्याम सोनी। साथ में परिलक्षित हैं सरदार मनमौजी सिंह।

अभिनन्दन करते हुए श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा के वरिष्ठ पदाधिकारी श्री सरदारमल कांकरिया एवं श्री रिखबचंद बोथरा। साथ में श्री राधेश्याम मिश्र भी परिलक्षित हैं।

मण्डेला नगर विकास परिषद की ओर से अभिनन्दन करते हुए उपाध्यक्ष श्री रामगोपाल मूंधा, श्री पुरुषोत्तम मोती एवं मंत्री श्री श्रीराम सोनी। साथ में हैं पुष्करणा समाज के वरिष्ठ अभिभावक श्री मनसुखदास जी बिस्सा।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

अभिनन्दन करते हुए छोटीखाटू से पधारे सुश्री अंजू सिंह, श्री कपूरचन्द बेताला एवं श्री यूनुस खान। साथ में हैं सिद्धि विनायक भक्त मंडल के श्री सुशील कोठारी एवं श्री जनार्दन अग्रवाल।

अभिनन्दन करते हुए स्वदेशी रिसर्च इन्स्टीट्यूट के निदेशक डॉ. धनपत राम अग्रवाल।

माल्यार्पण के उपरान्त उपहार भेंट करते हुए बंगला सामाजिक 'स्वस्तिका' के सम्पादक श्री विजय आढ्य।

शॉल ओढ़ाकर अभिनन्दन करते हुए सरदारशहर परिषद के पूर्व सचिव श्री रतनलाल दुगड़। पास में खड़े हैं श्री राजाराम बिहानी।

अभिनन्दन के उपरान्त छोटीखाटू नगरीय परिषद के सर्वश्री कालूराम धाड़ीवाल, नारायण प्रसाद मूंधड़ा, गुलाबचन्द मूंधड़ा, नवरतन मूंधड़ा, राधेश्याम मूंधड़ा, दुर्गा प्रसाद बाहेती, कपूरचन्द बेताला, लालचन्द बजाज एवं अन्यों के साथ।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

अभिनन्दन करते हुए भाजपा कलकत्ता उ.प. जिला के अध्यक्ष श्री किसन डंगर एवं युवा मोर्चा के अध्यक्ष श्री चन्द्रशेखर बासोतिया।

अभिनन्दन के उपरान्त श्री अशोक पुरोहित, श्री नन्दलाल शाह, डॉ. प्रेमशंकर त्रिपाठी के साथ श्री जैथलिया।

अभिनन्दन करते हुए बाल्यकाल के मित्र एवं परम सहयोगी श्री गोविन्द नारायण काकड़ा। साथ में हैं श्री गोविन्द जैथलिया एवं श्री श्यामलाल गोयल।

अभिनन्दन करती हुई बंगवासी कॉलेज की हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ. वसुमति डागा। साथ में परिलक्षित हैं श्री दिनेश पेडीवाल, डॉ. कमलेश कैन एवं श्रीमती सावित्री पाण्डेय प्रभृति।

अभिनन्दन करते हुए हास्य-व्यंग्य के कवि डॉ. गिरिधर राय। पास में खड़े हैं राष्ट्रवादी कवि डॉ. अरुण प्रकाश अवस्थी एवं गजलकार श्री रविप्रताप सिंह।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

अभिनन्दन करती हुई पूर्व उपमहापौर एवं पार्षदा (वार्ड २२) श्रीमती मीना देवी पुरोहित।

अभिनन्दन करती हुई वार्ड ४२ की पार्षदा श्रीमती सुनीता डंबर। साथ में हैं वार्ड २३ के पार्षद श्री विजय ओझा एवं भाजपा नेता श्री भंवरलाल मूंधड़ा।

अभिनन्दन के उपरान्त श्री राजगोपाल पसारी के साथ। अन्य परिलक्षित हैं भाजपा की श्रीमती गीता राव, श्रीमती लक्ष्मी राठी एवं श्रीमती नेहा लखोटिया।

अभिनन्दन करते हुए नागौर नागरिक संघ के पदाधिकारियों के साथ श्री सरदारमल बागाणी, प्रभात खबर दैनिक के कोलकाता प्रभारी श्री तारकेश्वर मिश्र एवं कवि श्री जयकुमार रुसवा।

अभिनन्दन करते हुए परिवार मिलन के वरिष्ठ पदाधिकारी श्री द्वारका प्रसाद गनेड़ीवाल एवं सावरकर फाउण्डेशन के श्री श्यामसुन्दर पोद्दार।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

अभिनन्दन करते हुए माहेश्वरी सभा के वरिष्ठ पदाधिकारी श्री रमाशंकर झंवर एवं श्रीमती राज झंवर।

अभिनन्दन करते हुए अखिल भारतवर्षीय मारवाड़ी सम्मेलन के मंत्रीमंत्री श्री सन्तोष सराफ।

शॉल ओढ़ाकर अभिनन्दन करते हुए प्रख्यात कथावाचक पं. श्रीकान्त शर्मा 'बालव्यास'।

अभिनन्दन करते हुए वरिष्ठ समाजसेवी एवं उद्योगपति श्री बनवारीलाल सोती।

अभिनन्दन करते हुए माहेश्वरी पुस्तकालय के महामंत्री श्री अशोक सोनी एवं श्री मनमोहन बागड़ी।

अमृत महोत्सव : माल्यार्पण

शॉल एवं माला प्रदान कर अभिनन्दन करते हुए साहित्य एवं समाजसेवी श्री जयप्रकाश सेठिया।

भगवान श्रीकृष्ण एवं गोमाता की प्रतिमा भेंट करते हुए वनबन्धु परिषद के वरिष्ठ पदाधिकारी श्री मांगीलाल जैन।

भगवान श्रीकृष्ण एवं गोमाता का प्रतीक चिह्न भेंट करते हुए राम-शरद कोठारी स्मृति संघ के अध्यक्ष श्री राजेश अग्रवाल एवं उपाध्यक्ष श्री सर्वेश राव। साथ में परिलक्षित हैं अभिनन्दन करती हुई बहन पूर्णिमा कोठारी।

अभिनन्दन करते हुए विप्र फाउण्डेशन के राष्ट्रीय संयोजक श्री सुशील ओझा।

अभिनन्दन करते हुए श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी हॉस्पिटल के महामंत्री श्री ओमप्रकाश रुइया।

महावीर प्रसाद बजाज

- जन्म : १० नवम्बर १९५२ ई.
- जन्म स्थान : छोटीखाटू , जिला-नागौर (राज.)
- शिक्षा : बी.एस सी. (गणित)
- रुचि : साहित्य एवं समाज सेवा

सह सम्पादक :

- कन्हैयालाल सेठिया समग्र (चार खण्ड)
- विष्णुकांत शास्त्री अमृत महोत्सव अभिनन्दन ग्रंथ
- कन्हैयालाल सेठिया : चुनी हुई कविताएँ
- लोकसेवक की जीवन-धारा
- गुलाब खण्डेलवाल : चुनी हुई रचनाएँ
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, राजस्थान परिषद, कलकत्ता पिंजरापोल सोसाइटी, चट्टग्राम संघर्ष स्वर्ण जयन्ती समारोह एवं श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय की अनेकों महत्वपूर्ण एवं संग्रहणीय स्मारिकाओं का सह सम्पादन।

साहित्यिक/सामाजिक गतिविधियां :

- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंत्री
- श्री छोटीखाटू हिन्दी पुस्तकालय के पूर्व उपाध्यक्ष एवं साहित्य मंत्री
- श्री छोटीखाटू नागरिक परिषद के पूर्व उपाध्यक्ष
- बाल्यकाल से ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक एवं विविध शाखाओं का निर्वाह। आजीवन में कार्यरत।
- सम्पर्क :
  ४२, काली कृष्ण टैगोर स्ट्रीट
  कोलकाता-७००००७
- दूरभाष : २२५९-२६७२ (नि.)

दो अक्टूबर रो दिवस, जग में बाजै जोर।
गांधी-शास्त्री रै जिया, जलम्या जुगलकिशोर।।
कंवर कन्हैयालाल रा, मां पुष्पा रा पूत।
कुळ में कूख उजाळता, अवतरिया अवधूत।।
नानेरा रै गाम सो, निम्बीजोधा नाम।
जैथलिया जलम्या जठै, ज्यूं खाटू रा स्याम।।
गट्टाणी परिवार में, उमड्यो घणो उमाव।
मैनादेवी सूं मंड्यो, बोरावड़ में ब्याव।।
डीडवाणै पढ़ परा, कर्यो कलकत्ता वास।
ले डिगरी कानून री, करी वकालत खास।।
हिंद गौरव जाग्रत हुयो, संघ स्यूं स्वाभिमान।
जलमभोम नैं जुगलजी, थां पर गरव-गुमान।।
संपादक-कौशल सिरै, सिरै ही सिरजणहार।
पोथ्यां रा थे पारखी, थां पर म्हे बलिहार।।
आखर अलख जगावियो, पोथ्यां सूं कर प्रेम।
स्वाध्याय रैयो सदा, जीवण रो नितनेम।।
पोथीखाना थरपिया, खाटू मांही खास।
संगठणां रा सारथी, थांरो थिर इतिहास।।
मान-सम्मान मोकळा, कीरत पर कुरबाण।
पुरस्कार ओछा पड्या, थांरै जस परवाण।।
इमरत-उच्छव आपरो, चाव घणो चहुंओर।
घणैमान जुग-जुग जिओ, जग में जुगलकिशोर।।

– डॉ. मदन सैनी

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय